ॐ

केनोपनिषद्

सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित

[पद-भाष्य एवं वाक्य-भाष्य]

प्रकाशक-

गीताप्रेस, गोरखपुर

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

श्री हंसराज बच्छराज नाहटा
सरदारशहर निवासी
द्वारा
जैन विश्व भारती, लाडनूं,
को सप्रेम भेंट —

सं० १९९२
प्रथम संस्करण
३२५०

मूल्य ।।) आठ आना

निवेदन

केनोपनिषद् सामवेदीय तलवकार ब्राह्मणके अन्तर्गत है। इसमे आरम्भसे लेकर अन्तपर्यन्त सर्वप्रेरक प्रभुके ही खरूप और प्रभावका वर्णन किया गया है। पहले दो खण्डोमे सर्वाधिष्ठान परब्रह्मके पारमार्थिक खरूपका लक्षणासे निर्देश करते हुए परमार्थज्ञानकी अनिर्वचनीयता तथा ज्ञेयके साथ उसका अभेद प्रदर्शित किया है। इसके पश्चात् तीसरे और चौथे खण्डमे यक्षोपाख्यानद्वारा भगवान्का सर्वप्रेरकत्व और सर्वकर्तृत्व दिखलाया गया है। इसकी वर्णनशैली बड़ी ही उदात्त और गम्भीर है। मन्त्रोके पाठमात्रसे ही हृदय एक अपूर्व मस्तीका अनुभव करने लगता है। भगवती श्रुतिकी महिमा अथवा वर्णन-शैलीके सम्बन्धमे कुछ भी कहना सूर्यको दीपक दिखाना है।

इस उपनिषद्का विशेष महत्त्व तो इसीसे प्रकट होता है कि भगवान् भाष्यकारने इसपर दो भाष्य रचे है। एक ही ग्रन्थपर एक ही सिद्धान्तकी स्थापना करते हुए एक ही ग्रन्थकारद्वारा दो टीकाएँ लिखी गयी हो—ऐसा प्रायः देखा नहीं जाता। यहाँ यह शङ्का होती है कि ऐसा करनेकी उन्हे क्यों आवश्यकता हुई? वाक्य-भाष्यपर टीका आरम्भ करते हुए श्रीआनन्दगिरि खामी कहते है—*'केनेषितामित्यादिकां सामवेदशाखा-भेदब्राह्मणोपनिषदं पदशो व्याख्यायापि न तुतोष भगवान् भाष्यकारः शारीरकैर्न्यायैरनिर्णीतार्थत्वादिति न्यायप्रधानश्रुत्यर्थसंग्राहकैर्वाक्यैर्व्याचिख्यासुः'*..........' अर्थात् 'केनेषितं' इत्यादि सामवेदीय शाखान्तर्गत ब्राह्मणोपनिषद्की पदशः व्याख्या करके भी भगवान् भाष्यकार सन्तुष्ट नहीं हुए, क्योकि उसमे उसके अर्थका शारीरकशास्त्रानुकूल युक्तियोसे निर्णय नहीं किया गया था, अतः अब श्रुत्यर्थका निरूपण करनेवाले न्यायप्रधान वाक्योंसे व्याख्या करनेकी इच्छासे आरम्भ करते है।

इस उद्धरणसे सिद्ध होता है कि भगवान् भाष्यकारने पहले पद-भाष्यकी रचना की थी। उसमे उपनिपदर्थकी पदशः व्याख्या तो हो गयी थी; परन्तु युक्तिप्रधान वाक्योसे उसके तात्पर्यका विवेचन नही हुआ था। इसीलिये उन्हे वाक्य-भाष्य लिखनेकी आवश्यकता हुई। पद-भाष्यकी रचना अन्य भाष्योके ही समान है। वाक्य-भाष्यमे जहाँ-तहाँ और विशेषतया तृतीय खण्डके आरम्भमे युक्ति-प्रयुक्तियोद्वारा परमतका खण्डन और स्वमतका स्थापन किया गया है। ऐसे स्थानोमे भाष्यकारकी यह शैली रही है कि पहले शङ्का और उसके उत्तरको एक सूत्रसदृश वाक्यसे कह देते है और फिर उसका विस्तार करते हैं; जैसे प्रस्तुत पुस्तकके पृष्ठ ३ पर 'कर्मविषये चानुक्तिः तद्विरोधित्वात्' ऐसा कहकर फिर 'अस्य विजिज्ञासितव्यस्यात्मतत्त्वस्य कर्मविपयेऽवचनम्' इत्यादि ग्रन्थसे इसीकी व्याख्या की गयी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पद-भाष्यमे प्रधानतया मूलकी पदशः व्याख्या की गयी है और वाक्य-भाष्यमे उसपर विशेष ध्यान न देकर विपयका युक्तियुक्त विवेचन करनेकी चेष्टा की गयी है। अँग्रेजी और बँगलामे जो उपनिषद्-भाष्यके अनुवाद प्रकाशित हुए है उनमे केवल पद-भाष्यका ही अनुवाद किया गया है, पण्डितवर श्रीपीताम्बरजीने जो हिन्दी-अनुवाद किया था उसमे भी केवल पद-भाष्य ही लिया गया था। मराठी-भापान्तरकार परलोकवासी पूज्यपाद पं० श्रीविष्णुवापट शास्त्रीने केवल वाक्य-भाष्यका अनुवाद किया है। हमे तो दोनों ही उपयोगी प्रतीत हुए; इसलिये दोनोहीका अनुवाद प्रकाशित किया जा रहा है। अनुवादोकी छपाईमे जो क्रम रक्खा गया है उससे उन दोनोंको तुलनात्मक दृष्टिसे पढ़नेमे बहुत सुभीता रहेगा। आशा है, हमारा यह अनधिकृत प्रयास पाठकोको कुछ रुचिकर हो सकेगा।

विनीत,

अनुवादक

श्रीहरिः

विषय-सूची

चतुर्थ खण्ड





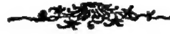
उमा और इन्द्र

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

केनोपनिषद्

मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थसहित



येनेरिताः प्रवर्तन्ते प्राणिनः स्वेषु कर्मसु ।
तं वन्दे परमात्मानं स्वात्मानं सर्वदेहिनाम् ॥
यस्य पादांशुसम्भूतं विश्वं भाति चराचरम् ।
पूर्णानन्दं गुरुं वन्दे तं पूर्णानन्दविग्रहम् ॥



शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ।
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

मेरे अङ्ग पुष्ट हों तथा मेरे वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, बल और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ पुष्ट हों । यह सब उपनिषद्वेद्य ब्रह्म है । मैं ब्रह्मका निराकरण न करूँ । ब्रह्म मेरा निराकरण न करे [अर्थात् मैं ब्रह्मसे विमुख न होऊँ और ब्रह्म मेरा परित्याग न करे] इस प्रकार हमारा परस्पर अनिराकरण हो, अनिराकरण हो । उपनिषदोंमें जो धर्म हैं वे आत्मा (आत्मज्ञान) में लगे हुए मुझमें हों, वे मुझमें हों । त्रिविध तापकी शान्ति हो ।



प्रथम खण्ड

सम्बन्ध-भाष्य

पद-भाष्य

उपक्रमणिका

'केनेषितम्' इत्याद्योपनिषत् परब्रह्मविषया वक्तव्या इति नवमस्याध्यायस्य आरम्भः। प्रागेतस्मात्कर्माणि अशेषतः परिसमापितानि, समस्तकर्माश्रयभूतस्य च प्राणस्योपासनान्युक्तानि, कर्माङ्गसामविषयाणि

अब 'केनेषितम्' इत्यादि परब्रह्मविषयक उपनिषत् कहनी है इसलिये इस नवम अध्यायका * आरम्भ किया जाता है। इससे पूर्व सम्पूर्ण कर्मोंके प्रतिपादनकी सम्यक्रूपसे समाप्ति की गयी है, तथा समस्त कर्मोंके आश्रयभूत प्राणकी उपासना एवं कर्मकी अङ्गभूत सामोपासनाका वर्णन किया गया है। उसके पश्चात् जो गायत्रसाम-

वाक्य-भाष्य

उपक्रमणिका

समाप्तं कर्मात्मभूतप्राणविषयं विज्ञानं कर्म चानेकप्रकारम्, ययोर्विकल्पसमुच्चयानुष्ठानाद्दक्षिणोत्तराभ्यां सृतिभ्यामावृत्त्यनावृत्ती भवतः। अत ऊर्ध्वं फलनिरपेक्षज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानात्कृतात्मसंस्कारस्योच्छिन्नात्मज्ञानप्रतिबन्धकस्य

इससे पूर्व-ग्रन्थमें कर्मोंके आश्रयभूत प्राणविज्ञान तथा अनेक प्रकारके कर्मका निरूपण समाप्त हुआ, जिनके विकल्प[1] और समुच्चय[2]के अनुष्ठानसे दक्षिण और उत्तर मार्गोंद्वारा क्रमशः आवृत्ति (आवागमन) और अनावृत्ति (क्रममुक्ति) हुआ करती है। इसके आगे देवता-ज्ञान और कर्मोंके समुच्चयका निष्काम भावसे अनुष्ठान करनेसे जिसने अपना चित्त शुद्ध कर लिया है, जिसका आत्मज्ञानका प्रतिबन्धकरूप

---

* यह उपनिषद् सामवेदीय तलवकार शाखाका नवम अध्याय है।

१. दोनोंमेंसे केवल एक। २. एक साथ दोनों।

पद-भाष्य

च । अनन्तरं च गायत्रसामविषयं दर्शनं वंशान्तमुक्तं कार्यम् ।

सर्वमेतद्यथोक्तं कर्म च ज्ञानं च सम्यगनुष्ठितं निष्कामस्य मुमुक्षोः सत्त्वशुद्ध्यर्थं भवति ।

विषयक विचार और शिष्यपरम्परारूप वंशके वर्णनमें समाप्त होनेवाले ग्रन्थसे कहा गया है वह कार्यरूप वस्तुका ही वर्णन है ।

ऊपर बतलाया हुआ यह सम्पूर्ण कर्म और ज्ञान सम्यक् प्रकारसे सम्पादन किये जानेपर निष्काम मुमुक्षुकी तो चित्त-शुद्धिके कारण होते हैं । तथा

वाक्य-भाष्य

द्वैतविषयदोषदर्शिनो निर्ज्ञाताशेषबाह्यविषयत्वात्संसारबीजमज्ञानमुच्छिच्छित्सतः प्रत्यगात्मविषयजिज्ञासोः केनेषितमित्यात्मस्वरूपतत्त्वविज्ञानायायमध्याय आरभ्यते । तेन च मृत्युपदम् अज्ञानमुच्छेत्तव्यं तत्तन्त्रो हि संसारो यतः । अनधिगतत्वाद् आत्मनो युक्ता तदधिगमाय तद्विषया जिज्ञासा ।

कर्मविषये चानुक्तिः; तद्विरोधित्वात् । अस्य विजिज्ञासितव्यस्य आत्मतत्त्वस्य कर्मविषयेऽवचनम् ।

ज्ञानकर्मविरोधः

दोष नष्ट हो गया है, जो द्वैतविषयमें दोष देखने लगा है तथा सम्पूर्ण बाह्य विषयोंका तत्त्व जान लेनेके कारण जो संसारके बीजस्वरूप अज्ञानका उच्छेद करना चाहता है, उस आत्मतत्त्वके जिज्ञासुको आत्मस्वरूपके तत्त्वका ज्ञान करानेके लिये 'केनेषितम्' आदि मन्त्रसे यह (नवाँ) अध्याय आरम्भ किया जाता है । उस आत्मतत्त्वके ज्ञानसे ही मृत्युके कारणरूप अज्ञानका उच्छेद करना चाहिये, क्योंकि यह संसार अज्ञानमूलक ही है । आत्मतत्त्व अज्ञात है, इसलिये उसका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये आत्मविषयक जिज्ञासा उचित ही है ।

कर्मकाण्डमें आत्मतत्त्वका निरूपण नहीं किया गया क्योंकि यह उसका विरोधी है । इस विशेषरूपसे जानने-योग्य आत्मतत्त्वका कर्मकाण्डमें विवेचन नहीं किया जाता । यदि कहो

पद-भाष्य

सकामस्य तु ज्ञानरहितस्य केवलानि श्रौतानि स्मार्तानि च कर्माणि दक्षिणमार्गप्रतिपत्तये पुनरावृत्तये च भवन्ति । स्वाभाविक्या त्वशास्त्रीयया प्रवृत्त्या पश्वादिस्थावरान्ता अधोगतिः स्यात् । "अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयꣳ स्थानम्" (छा० उ० ५ । १० । ८) इति श्रुतेः;

ज्ञानरहित सकाम साधकके केवल श्रौत और स्मार्त कर्म दक्षिण मार्गकी प्राप्ति और पुनरावर्तनके हेतु होते हैं । इनके सिवा अशास्त्रीय स्वच्छन्द वृत्तिसे तो पशुसे लेकर स्थावरपर्यन्त अधोगति ही होती है । "ये [स्वच्छन्द प्रवृत्तिवाले जीव उत्तरायण और दक्षिणायन] इन दोनोंमेंसे किसी मार्गसे नहीं जाते; वे निरन्तर आवर्तन करनेवाले क्षुद्र जीव होते हैं; उनका 'जन्म लो और मरो' यह तीसरा स्थान (मार्ग) है"

वाक्य-भाष्य

कस्मादिति चेदात्मनो हि यथावद्विज्ञानं कर्मणा विरुध्यते । निरतिशयब्रह्मस्वरूपो ह्यात्मा विजिज्ञापयिषितः, "तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदम्०" (के० उ० १ । ४) इत्यादि श्रुतेः । न हि स्वाराज्येऽभिषिक्तो ब्रह्मत्वं गमितः कञ्चन नमितुमिच्छत्यतो ब्रह्मास्मीति सम्बुद्धो न कर्म कारयितुं शक्यते । न ह्यात्मानम् अवाप्तार्थं ब्रह्म मन्यमानः प्रवृत्तिं प्रयोजनवतीं पश्यति । न च

किं क्यों ? तो उसका कारण यह है कि आत्माका यथार्थ ज्ञान कर्मका विरोधी है, क्योंकि जिसका ज्ञान कराना अभीष्ट है वह आत्मा तो सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मस्वरूप ही है, जैसा कि "तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" इत्यादि श्रुतिका कथन है । जो पुरुष स्वाराज्यपर अभिषिक्त होकर ब्रह्मभावको प्राप्त हो गया है वह किसीके भी सामने झुकनेकी इच्छा नहीं करता । अतः जिसने यह जान लिया है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' उससे कर्म नहीं कराया जा सकता । अपने आत्माको आप्तकाम ब्रह्म माननेवाला पुरुष किसी भी प्रवृत्तिको प्रयोजनवती नहीं देखता और कोई भी

पद-भाष्य

"प्रजा ह तिस्रोऽत्यायमीयुः" (ऐ० आ० २ । १ । १ । ४) इति च मन्त्रवर्णात् ।

ज्ञानाधिकारि-निरूपणम्

विशुद्धसत्त्वस्य तु निष्कामस्य एव बाह्यादनित्यात् साध्यसाधनसम्बन्धाद् इह कृतात्पूर्वकृताद्वा संस्कारविशेषोद्भवाद्विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषया जिज्ञासा प्रवर्तते । तदेतद्वस्तु प्रश्नप्रतिवचनलक्षणया

इस श्रुतिसे और "तीन प्रसिद्ध प्रजाओंने धर्मत्याग किया" इस मन्त्रवर्णसे भी [यही बात सिद्ध होती है] ।

जो इस जन्म और पूर्व जन्ममें किये हुए कर्मोंके संस्कारविशेषसे उद्भूत बाह्य एवं अनित्य साध्य-साधनके सम्बन्धसे विरक्त हो गया है उस विशुद्धचित्त निष्काम पुरुषको ही प्रत्यगात्मविषयक जिज्ञासा हो सकती है । यही बात 'केनेषितम्' इत्यादि प्रश्नोत्तररूपा

वाक्य-भाष्य

निष्प्रयोजना प्रवृत्तिरतो विरुध्यत एव कर्मणा ज्ञानम् । अतः कर्मविषयेऽनुक्तिः,विज्ञानविशेषविषया एव जिज्ञासा ।

कर्मानारम्भ इति चेन्न; निष्कामस्य संस्कारार्थत्वात् ।

यदि ह्यात्मविज्ञानेनात्माविद्याविषयत्वात्परितित्याजयिषितं कर्म ततः "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्" (म० वन० २ । ४९)

प्रवृत्ति विना प्रयोजनके हो नहीं सकती, अतः कर्मसे ज्ञानका विरोध है ही । इसीलिये कर्मकाण्डमें आत्मज्ञानका उल्लेख नहीं है; अर्थात् जिज्ञासा किसी विज्ञानविशेषके सम्बन्धमें ही होती है ।

यदि कहो कि तब तो कर्मका आरम्भ ही न किया जाय तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि निष्काम कर्म पुरुषका संस्कार करनेवाला है ।

पूर्व०—यदि आत्माके अज्ञानका कारण होनेसे आत्मज्ञानद्वारा कर्मका परित्याग कराना ही अभीष्ट है तो "कीचडको धोनेकी अपेक्षा तो उसे दूरसे न छूना ही अच्छा है" इस

पद-भाष्य

श्रुत्या प्रदर्श्यते 'केनेषितम्' इत्याद्यया । काठके चोक्तम् "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भू-स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्" (क० उ० २।१।१) इत्यादि। "परीक्ष्यलोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो

श्रुतिद्वारा दिखलायी जाती है। कठोपनिषद्में तो कहा है—"स्वयम्भू परमात्माने इन्द्रियोंको बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है; इसलिये इन्द्रियाँ बाहरकी ओर ही देखती है, अन्तरात्माको नहीं देखतीं; किसी-किसी बुद्धिमान्ने ही अमरत्वकी इच्छा करते हुए अपनी इन्द्रियोंको रोककर प्रत्यगात्माका साक्षात्कार किया है" इत्यादि। तथा अथर्ववेदीय (मुण्डक) उपनिषद्में भी कहा है—"ब्रह्मनिष्ठ पुरुष कर्मद्वारा प्राप्त होनेवाले

वाक्य-भाष्य

इत्यनारम्भ एव कर्मणः श्रेयान् । अल्पफलत्वादायासबहुलत्वात् तत्त्वज्ञानादेव च श्रेयःप्राप्तेः; इति चेत् ।

उक्तिके अनुसार कर्मको आरम्भ न करना ही उत्तम है क्योंकि वह अल्प फलवाला और अधिक परिश्रमवाला है तथा आत्यन्तिक कल्याण तत्त्व-विज्ञानसे ही होता है ।

चित्तशुद्धये कर्मावश्यकम् आप्तज्ञानस्य तु तदनारम्भः

सत्यम्; एतदविद्याविषयं कर्माल्पफलत्वादि-दोषवद्बन्धरूपं च सकामस्य "कामान् यः कामयते"(मु०उ० ३।२।२) "इति नु कामयमानः" इत्यादिश्रुतिभ्यः; न निष्कामस्य । तस्य तु संस्कारार्थान्येव कर्माणि

सिद्धान्ती-ठीक है, परन्तु यह अविद्यामूलक कर्म "जो भोगोंकी कामना करता है" तथा "इस प्रकार जो कामना करनेवाला है" इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार सकाम पुरुषके लिये ही अल्पफलत्वादि दोषोंसे युक्त तथा बन्धनकारक है; निष्काम पुरुषके लिये नहीं । उसके लिये तो कर्म अपने निर्वर्तक (निष्पन्न करनेवाले) और आश्रयभूत प्राणोंके विज्ञानके सहित

पद-भाष्य

निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन । तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" (मु० उ० १ । २ । १२) इत्याद्याथर्वणे च ।

लोकोंकी परीक्षा कर वैराग्यको प्राप्त हो जाय, क्योंकि कृत (कर्म) के द्वारा अकृत (नित्यस्वरूप मोक्ष) प्राप्त नहीं हो सकता । उसका विशेष ज्ञान प्राप्त करनेके लिये तो उस (जिज्ञासु) को हाथमें समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुके ही पास जाना चाहिये" इत्यादि ।

निवृत्ताशानस्य कृतकृत्यता-प्रदर्शनम्

एवं हि विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषयं विज्ञानं श्रोतुं मन्तुं विज्ञातुं च सामर्थ्यमुपपद्यते, नान्यथा । एतस्माच्च प्रत्यगात्म-

केवल इस प्रकारसे ही विरक्त पुरुषको प्रत्यगात्मविषयक विज्ञानके श्रवण, मनन और साक्षात्कारकी क्षमता हो सकती है, और किसी तरह नहीं । इस प्रत्यगात्माके

वाक्य-भाष्य

भवन्ति तन्निर्वर्तकाश्रयप्राणविज्ञानसहितानि । "देवयाजी श्रेयानात्मयाजी वा" इत्युपक्रम्यात्मयाजी तु करोति "इदं मेऽनेनाङ्गं संस्क्रियते इति" संस्कारार्थमेव कर्माणीति वाजसनेयके । "महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः" (मनु० २ । २८) "यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्" (गीता १८ । ५) इत्यादि स्मृतेश्च ।

संस्कारके ही कारण होते हैं । "देवयाजी श्रेष्ठ है या आत्मयाजी" इस प्रकार आरम्भ करके वाजसनेय श्रुतिमें कहा है कि आत्मयाजी अपने संस्कारके लिये ही यह समझकर कर्म करता है कि "इससे मेरे इस अंगका संस्कार होगा" । "यह शरीर महायज्ञ और यज्ञोंद्वारा ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके योग्य किया जाता है ।" "यज्ञ, दान और तप—ये विद्वानोंको पवित्र करनेवाले ही हैं" इत्यादि स्मृतियोंसे भी यही बात सिद्ध होती है ।

प्राणादिविज्ञानं च केवलं कर्मसमुच्चितं वा सकामस्य प्राणात्म-

अकेला या कर्मके साथ मिला हुआ होनेपर भी प्राणादि विज्ञान सकाम

पद-भाष्य

ब्रह्मविज्ञानात्संसारबीजमज्ञानं कामकर्मप्रवृत्तिकारणमशेषतो निवर्तते, "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (ई० उ० ७) इति मन्त्रवर्णात्, "तरति शोकमात्मवित्" (छा० उ० ७ । १ । ३) इति, "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" (मु० उ० २ । २ । ८) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च ।

ब्रह्मत्वविज्ञानसे ही कामना और कर्मकी प्रवृत्तिका कारण तथा संसारका बीजभूत अज्ञान पूर्णतया निवृत्त हो सकता है; जैसा कि "उस अवस्थामे एकत्व देखनेवाले पुरुषको क्या मोह और क्या शोक हो सकता है" इत्यादि मन्त्रवर्ण तथा "आत्मज्ञानी शोकको पार कर जाता है" "उस परावरको देख लेनेपर उसकी हृदय-ग्रन्थि टूट जाती है, सारे सन्देह नष्ट हो जाते है और समस्त कर्म क्षीण हो जाते है" इत्यादि श्रुतियोसे सिद्ध होता है ।

वाक्य-भाष्य

प्राप्त्यर्थमेव भवति । निष्कामस्य त्वात्मज्ञानप्रतिबन्धनिर्मोक्षार्थं भवति; आदर्शनिर्मार्जनवत् । उत्पन्नात्मविद्यस्य त्वनारम्भो निरर्थकत्वात् । "कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते । तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः" (महा० शा० २४२ । ७) इति । "क्रिया-पथश्चैव पुरस्तात्संन्यासश्च तयोः संन्यास एवात्यरेचयत्" इति

पुरुषके लिये तो प्राणत्व-प्राप्तिका ही कारण होता है, किन्तु निष्काम पुरुष-के लिये वह दर्पणके मार्जनके समान आत्मज्ञानके प्रतिबन्धकोका निवर्तक होता है । हॉ, जिसे आत्मज्ञान प्राप्त हो गया है उसके लिये निष्प्रयोजन होनेके कारण कर्मके आरम्भकी अपेक्षा नहीं है । जैसा कि "जीव कर्मसे बॅधता है और आत्मज्ञानसे मुक्त हो जाता है, इसलिये पारदर्शी यतिजन कर्म नही करते" "पूर्वकालमे कर्ममार्ग और संन्यास [दो मार्ग] थे उनमे-संन्यास ही उत्कृष्ट था" "किन्हीने त्यागसे

पद-भाष्य

कर्मसहितादपि ज्ञानादेतत् सिध्यतीति चेत् ?

न; वाजसनेयके तस्यान्य-कारणत्ववचनात् । "जाया मे स्यात्" (बृ० उ० १।४।१७) इति प्रस्तुत्य "पुत्रेणायं लोको जय्यो नान्येन कर्मणा, कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः" (बृ० उ० १।५।१६) इत्यात्मनोऽन्यस्य लोकत्रयस्य कारणत्वमुक्तं वाजसनेयके ।

समुच्चयवाद-खण्डनम्

पूर्व०—यह बात तो कर्मसहित ज्ञानसे भी सिद्ध हो सकती है न ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि वाजसनेय (बृहदारण्यक) श्रुतिमे उस (कर्मसहित ज्ञान) को अन्य फलका कारण बतलाया है । "मुझे स्त्री प्राप्त हो" इस प्रकार आरम्भ करके वाजसनेय श्रुतिमे "यह लोक पुत्रद्वारा प्राप्त किया जा सकता है और किसी कर्मसे नहीं; कर्मसे पितृलोक मिलता है और विद्या (उपासना) से देवलोक" इस प्रकार उसे आत्मासे भिन्न लोकत्रय-का ही कारण बतलाया है ।

वाक्य-भाष्य

"त्यागेनैके०" (कै० उ० १।२) "नान्यः पन्था विद्यते०" (श्वे० उ० ३।८) इत्यादिश्रुतिभ्यश्च ।

न्यायाच्च; उपायभूतानि हि कर्माणि संस्कारद्वारेण ज्ञानस्य । ज्ञानेन त्वमृतत्वप्राप्तिः, "अमृतत्वं हि विन्दते" (के० उ० २।४) "विद्यया विन्दतेऽमृतम्" (के० उ० २।४) इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यश्च । न हि नद्याः पारगो नावं

[अमरत्व प्राप्त किया]" तथा "[इसके सिवा] और कोई मार्ग नहीं है" इत्यादि श्रुतियोंसे भी सिद्ध होता है ।

युक्तिसे भी [कर्म ज्ञानके साक्षात् साधन नहीं हैं ।] कर्म तो चित्तशुद्धिके द्वारा ज्ञानके साधन हैं । अमृतत्वकी प्राप्ति तो ज्ञानसे ही होती है जैसा कि "[ज्ञानसे] अमृतत्व ही प्राप्त कर लेता है" "विद्यासे अमृतको पा लेता है" इत्यादि श्रुति-स्मृतियोंसे प्रमाणित होता है । जो मनुष्य नदीके पार पहुँच गया है वह अपने अभीष्ट

पद-भाष्य

तत्रैव च पारिव्राज्यविधाने हेतुरुक्तः "किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोकः" (बृ० उ० ४।४।२२) इति। तत्रायं हेत्वर्थः—प्रजाकर्मतत्संयुक्तविद्याभिर्मनुष्यपितृदेवलोकत्रयसाधनैरनात्मलोकप्रतिपत्तिकारणैः किं करिष्यामः। न चास्माकं लोकत्रयमनित्यं साधनसाध्यमिष्टम्, येषामस्माकं स्वाभा-

वहाँ (उस बृहदारण्यकोपनिषद्में) ही संन्यास ग्रहण करनेमें यह हेतु बतलाया है—"हम प्रजाको लेकर क्या करेंगे, जिन हमे कि यह आत्मलोक ही अभीष्ट है ?" उस हेतुका अभिप्राय इस प्रकार है—'मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक—इन तीन लोकोंके साधन अनात्मलोकोकी प्राप्तिके हेतुभूत प्रजा, कर्म और कर्मसहित ज्ञानसे हमे क्या करना है; क्योकि हमलोगोंको जिन्हे कि, स्वाभाविक, अजन्मा,

वाक्य-भाष्य

न मुञ्चति यथेष्टदेशगमनं प्रति स्वातन्त्र्ये सति।

स्थानपर जानेके लिये स्वतन्त्रता प्राप्त होनेपर भी नौकाको न छोड़े—ऐसा कभी नही होता।

आत्मनः अविकार्यत्वादिनिरूपणम्

न हि स्वभावसिद्धं वस्तु सिषाधयिषति साधनैः। स्वभावसिद्धश्चात्मा, तथा न आपिपयिषितः; आत्मत्वे सति नित्याप्तत्वात्। नापि विचिकारयिषितः; आत्मत्वे सति नित्यत्वादविकारित्वात् अविषयत्वादमूर्तत्वाच्च।

जो वस्तु स्वतः सिद्ध है उसे कोई भी पुरुष साधनोसे सिद्ध नही करना चाहता। आत्मा भी स्वभाव-सिद्ध है; और इसीलिये वह प्राप्त करनेकी इच्छा करने योग्य नही है, क्योकि आत्मस्वरूप होनेके कारण वह नित्य-प्राप्त ही है। इसी प्रकार उसका विकार भी इष्ट नही है क्योंकि आत्मा होनेके साथ ही वह नित्य, अविकारी, अविषय तथा अमूर्त्त भी है।

पद-भाष्य

विक्रोऽजोऽजरोऽमृतोऽभयो न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्नित्यश्च लोक इष्टः । स च नित्यत्वान्नाविद्यानिवृत्तिव्यतिरेकेणान्यसाधननिष्पाद्यः । तस्मात्प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानपूर्वकः सर्वैषणासंन्यास एव कर्तव्य इति ।	अजर, अमर, अभय और जो कर्मसे घटता-बढ़ता नहीं है वह नित्य-लोक ही इष्ट है, साधनद्वारा प्राप्त होनेवाला अनित्य लोकत्रय तो इष्ट है नहीं । और वह (आत्मलोक) तो नित्य होनेके कारण अविद्या-निवृत्तिके सिवा अन्य किसी भी साधनसे प्राप्त होने योग्य है नहीं । अतः हमको आत्मा और ब्रह्मके एकत्वज्ञानपूर्वक सब प्रकारकी एषणाओंका त्याग ही करना चाहिये ।

वाक्य-भाष्य

श्रुतेश्च "न वर्धते कर्मणा" (बृ० उ० ४ । ४ । २३) इत्यादि । स्मृतेश्च "अविकार्योऽयमुच्यते" (गीता २ । २५) इति । न च संश्चिकीर्षितः "शुद्धमपापविद्धम्" (ई० उ० ८) इत्यादिश्रुतिभ्यः; अनन्यत्वाच्च; अन्येनान्यत्संस्क्रियते । न चात्मनोऽन्यभूता क्रिया अस्ति, न च स्वेनैवात्मना स्वमात्मानं संश्चिकीर्षेत् । न च वस्त्वन्तराधानं नित्यप्राप्तिर्वा वस्त्वन्तरस्य	इसके सिवा श्रुतिसे "आत्मा कर्मसे बढ़ता नहीं है" इत्यादि और स्मृतिसे भी "यह आत्मा अविकार्य कहा जाता है" इत्यादि कहा गया है । "शुद्ध और पापरहित" इत्यादि श्रुतियोंसे [प्रकट होता है कि] आत्माका संस्कार करना भी अभीष्ट नहीं है । इसके सिवा अपनेसे अभिन्न होनेके कारण भी वह संस्कार्य नहीं है क्योंकि संस्कार अन्य वस्तुके द्वारा अन्यका ही हुआ करता है । आत्मासे भिन्न कोई क्रिया भी नहीं है; और स्वयं आत्माके योगसे ही आत्माके संस्कारकी इच्छा कोई न करेगा । एक वस्तुका दूसरी वस्तुपर आधान करना अथवा एक वस्तुको दूसरी वस्तुका प्राप्त होना नित्य नहीं हो

पद-भाष्य

ज्ञानकर्मविरोध-प्रदर्शनम्

कर्मसहभावित्वविरोधाच्च प्रत्यगात्मब्रह्मविज्ञानस्य । न ह्युपात्तकारकफलभेदविज्ञानेन कर्मणा प्रत्यस्तमितसर्वभेददर्शनस्य प्रत्यगात्मब्रह्मविषयस्य सहभावित्वम् उपपद्यते, वस्तुप्राधान्ये सति अपुरुषतन्त्रत्वाद्ब्रह्मविज्ञानस्य । तस्माद्दृष्टादृष्टेभ्यो बाह्यसाधनसाध्येभ्यो विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषया ब्रह्मजिज्ञासेयम् 'केनेषितम्' इत्यादिश्रुत्या प्रदर्श्यते । शिष्याचार्यप्रश्नप्रतिवचनरूपेण कथनं तु सूक्ष्मवस्तुविषयत्वात् सुखप्रतिपत्तिकारणं भवति । केवलतर्कागम्यत्वं च दर्शितं भवति ।

इसके सिवा आत्मा और ब्रह्मके एकत्वज्ञानका कर्मके साथ-साथ होनेमे विरोध भी है । जिसमे [कर्ता-कर्मादि] कारक और [स्वर्गादि] फलका भेद स्वीकार किया गया है उस कर्मके साथ सम्पूर्ण भेददृष्टिसे रहित ब्रह्म और आत्माकी एकताके ज्ञानका रहना संगत नहीं है, क्योकि ब्रह्मज्ञान तो वस्तुप्रधान होनेके कारण पुरुष (कर्ता) के अधीन नही है । अतः इस 'केनेषितम्' इत्यादि श्रुतिके द्वारा यह दृष्ट और अदृष्ट बाह्यसाधन एवं साध्योसे विरक्त हुए पुरुषकी ही प्रत्यगात्मविषयक ब्रह्मजिज्ञासा दिखलायी जाती है । शिष्य और आचार्यके प्रश्नोत्तररूपसे यह कथन वस्तुका सुगमतासे ज्ञान करानेमें कारण है क्योंकि यह विषय सूक्ष्म है । इसके सिवा केवल तर्कद्वारा इसकी अगम्यता भी दिखलायी गयी है ।

वाक्य-भाष्य

नित्या । नित्यत्वं चेष्टं मोक्षस्य । अत उत्पन्नविद्यस्य कर्मारम्भोऽनुपपन्नः, अतो व्यावृत्तबाह्यबुद्धेः आत्मविज्ञानाय केनेषितमित्याद्यारम्भः ।

सकता[1], और मोक्षकी नित्यता ही इष्ट है । इसलिये जिसे आत्मज्ञान हो गया है उसके लिये कर्मका आरम्भ नही बन सकता । अतः जिसकी बाह्य-बुद्धि निवृत्त हो गयी है उसे आत्मतत्त्वका ज्ञान करानेके लिये 'केनेषितम्' इत्यादि उपनिषद् आरम्भ की जाती है ।

१. अर्थात् आत्मापर परमानन्दत्व आदि गुणोका आधान या उसका ब्रह्माण्ड-बाह्य ब्रह्मको प्राप्त होना नित्य नही हो सकता ।

पद-भाष्य

"नैषा तर्केण मतिरापनेया" (क० उ० १।२।९) इति श्रुतेश्च। "आचार्यवान्पुरुषो वेद" (छा० उ० ६।१४।२) "आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापदिति" (छा० उ० ४।९।३) "तद्विद्धि प्रणिपातेन" (गीता ४।३४) इत्यादिश्रुतिस्मृतिनियमाच्च कश्चिद्गुरुं ब्रह्मनिष्ठं विधिवदुपेत्य प्रत्यगात्मविषयादन्यत्र शरणम् अपश्यन्नभयं नित्यं शिवमचलम् इच्छन्पप्रच्छेति कल्प्यते—

गुरूपसत्ति.

"यह बुद्धि तर्कद्वारा प्राप्त होने योग्य नहीं है" इस श्रुतिसे भी यही बात सिद्ध होती है। अतः "आचार्यवान् पुरुष [ब्रह्मको] जानता है" "आचार्यसे प्राप्त हुई विद्या ही उत्कृष्टताको प्राप्त होती है" "उसे साष्टाङ्ग प्रणामके द्वारा जानो" इत्यादि श्रुति-स्मृतिके नियमानुसार किसी शिष्यने प्रत्यगात्मविषयक ज्ञानके सिवा कोई और शरण (आश्रय) न देखकर उस निर्भय, नित्य, कल्याणमय अचल पदकी इच्छा करते हुए किसी ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास विधिपूर्वक जाकर पूछा—यही बात [आगेकी श्रुतिसे] कल्पना की जाती है—

वाक्य-भाष्य

प्रवृत्तिलिङ्गाद्विशेषार्थः प्रश्न उपपन्नः। रथादीनां हि चेतनावदधिष्ठितानां प्रवृत्तिर्दृष्टा न अनधिष्ठितानाम्। मन आदीनां च अचेतनानां प्रवृत्तिर्दृश्यते। तद्धि लिङ्गं चेतनावतोऽधिष्ठातुः अस्तित्वे। करणानि हि मन आदीनि नियमेन प्रवर्तन्ते।

[मन आदि अचेतन पदार्थोंकी] प्रवृत्तिरूप लिङ्गसे [उनकी प्रेरणा करनेवाले] किसी विशेष तत्त्वके विषयमें प्रश्न करना ठीक ही है, क्योंकि रथ आदि [अचेतन पदार्थों] की प्रवृत्ति भी चेतन प्राणियोंसे अधिष्ठित होकर ही देखी है, उनसे अधिष्ठित हुए बिना नहीं देखी। मन आदि अचेतन पदार्थोंकी भी प्रवृत्ति देखी ही जाती है। यही उनके चेतन अधिष्ठाताके अस्तित्वका अनुमापक लिङ्ग है। मन आदि इन्द्रियाँ नियमसे

प्रेरकविषयक प्रश्न

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः । केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः । केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥ १ ॥

यह मन किसके द्वारा इच्छित और प्रेरित होकर अपने विषयोंमें गिरता है ? किससे प्रयुक्त होकर प्रथम (प्रधान) प्राण चलता है ? प्राणी किसके द्वारा इच्छा की हुई यह वाणी बोलते हैं ? और कौन देव चक्षु तथा श्रोत्रको प्रेरित करता है ? ॥ १ ॥

पद-भाष्य

केन इषितं केन कर्त्रा इषितम् इष्टमभिप्रेतं सत् मनः पतति

केन इषितम्—किस कर्ताके द्वारा इच्छित अर्थात् अभिप्रेत हुआ मन अपने विषयकी ओर जाता

वाक्य-भाष्य

तन्नासति चेतनावत्यधिष्ठातरि उपपद्यते । तद्विशेषस्य चानधिगमाच्चेतनावत्सामान्ये चाधिगते विशेषार्थः प्रश्न उपपद्यते ।

केनेषितम् केनेष्टं कस्येच्छामात्रेण मनः पतति गच्छति स्वविषये नियमेन व्याप्रियत इत्यर्थः । मनुतेऽनेनेति विज्ञाननिमित्तमन्तःकरणं मनः प्रेषितम् इवेत्युपमार्थः । न त्विषित-

प्रवृत्त हो रही हैं उनकी प्रवृत्ति बिना किसी चेतन अधिष्ठाताके बन नहीं सकती । इस प्रकार सामान्य चेतनका ज्ञान होनेपर भी उसके विशेष रूपका ज्ञान न होनेके कारण यह विशेष-विषयक प्रश्न उचित ही है ।

केन इषितम्—किससे इच्छा किया हुआ अर्थात् किसकी इच्छामात्रसे मन अपने विषयोंकी ओर गिरता अर्थात् जाता है ? यानी वह किसकी इच्छासे अपने विषयमें नियमानुसार व्यापार करता है ? जिससे मनन करते हैं वह विज्ञाननिमित्तक अन्तःकरण मन है । यहाँ 'किसके द्वारा प्रेषित हुआ-सा'—ऐसा उपमापरक अर्थ लेना चाहिये ।

पद-भाष्य

गच्छति स्वविषयं प्रतीति सम्बध्यते इषेराभीक्ष्ण्यार्थस्य गत्यर्थस्य चेहासम्भवादिच्छार्थस्यैवैतद्रूपमिति गम्यते। इषितामिति इट्प्रयोगस्तुच्छान्दसः। तस्यैव प्रपूर्वस्य नियोगार्थे प्रेषितमित्येतत्। तत्र प्रेषितमित्येवोक्ते प्रेषयितृप्रेषणविशेषविषयाकाङ्क्षा स्यात्—केन प्रेषयितृविशेषेण, कीदृशं वा प्रेषणमिति। इषितमिति तु विशेषणे सति तदुभयं निवर्तते, कस्येच्छामात्रेण प्रेषितमित्यर्थविशेषनिर्धारणात्।

है—यहाँ 'पतति' क्रियाके साथ 'स्वविषयं प्रति' का सम्बन्ध (अन्वय) है। यहाँ आभीक्ष्ण्य और गत्यर्थक * 'इष्' धातु सम्भव न होनेके कारण यह इच्छार्थक 'इष्' धातुका ही [इषितम्] रूप है—ऐसा जाना जाता है। ['इष्टम्' के स्थानमें 'इषितम्'] यह इट्-प्रयोग छान्दस (वैदिक) † है। उस प्र-पूर्वक 'इष्' धातुका ही प्रेरणा अर्थमें 'प्रेषितम्' रूप हुआ है। यदि यहाँ केवल 'प्रेषितम्' इतना ही कहा होता तो प्रेषण करनेवाले और उसके प्रेषण-प्रकारके सम्बन्धमें ऐसी शङ्का हो सकती थी कि किस प्रेषकविशेषके द्वारा और किस प्रकार प्रेषण किया हुआ? अतः यहाँ 'इषितम्' इस विशेषणके रहनेसे ये दोनों शङ्काएँ निवृत्त हो जाती हैं, क्योंकि 'इससे किसीकी इच्छामात्रसे प्रेषित हुआ' यह विशेष अर्थ हो जाता है।

वाक्य-भाष्य

प्रेषितशब्दयोरर्थाविह सम्भवतः। न हि शिष्यानिव मन आदीनि

'इषित' और 'प्रेषित' शब्दोंके मुख्य अर्थ यहाँके लिये सम्भव नहीं हैं, क्योंकि आत्मा मन आदिको विषयोंकी

* इष् धातुके अर्थ आभीक्ष्ण्य (बारम्बार होना) गति और इच्छा हैं।

† व्याकरणका यह सिद्धान्त है कि 'छन्दसि दृष्टानुविधिः' वेदमें जो प्रयोग जैसे देखे गये हैं वहाँके लिये उनका वैसा ही विधान माना गया है।

पद-भाष्य

यद्येषोऽर्थोऽभिप्रेतः स्यात्, केनेषितमित्येतावतैव सिद्धत्वात्प्रेषितमिति न वक्तव्यम् । अपि च शब्दाधिक्यादर्थाधिक्यं युक्तमिति इच्छया कर्मणा वाचा वा केन प्रेषितमित्यर्थविशेषोऽवगन्तुं युक्तः ।

मन्त्रार्थ-मीमांसा

शङ्का—यदि यही अर्थ अभिमत था तो 'केनेषितम्' इतनेहीसे सिद्ध हो सकनेके कारण 'प्रेषितम्' ऐसा और नहीं कहना चाहिये था। इसके अतिरिक्त शब्दोकी अधिकतासे अर्थकी अधिकता होनी उचित है इसलिये 'इच्छा' कर्म अथवा वाणी इनमेसे किसके द्वारा प्रेपित, इस प्रकार प्रेपकविशेपका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होगा ।

न, प्रश्नसामर्थ्यात्; देहादिसंघातादनित्यात्कर्मकार्याद्विरक्तः

समाधान—नही,प्रश्नकी सामर्थ्यसे यह बात प्रतीत नही होती; क्योकि इससे यह निश्चय होता है कि जो पुरुप देहादि सङ्घातरूप अनित्य कर्म और कार्यसे विरक्त हो गया है

वाक्य-भाष्य

विषयेभ्यः प्रेषयत्यात्मा । विविक्तनित्यचित्स्वरूपतया तु निमित्तमात्रं प्रवृत्तौ नित्यचिकित्साधिष्ठातृवत् ।

और इस प्रकार नही भेजता जैसे गुरु शिष्योको । वह तो सबसे विलक्षण और नित्य चित्स्वरूप होनेके कारण नित्य चिकित्साके अधिष्ठाता [चकोर पक्षी] के समान उनकी प्रवृत्तिमे केवल निमित्तमात्र है ।

१. राजा लोग जब भोजन करते है तो उसमे विष मिला हुआ तो नही है' इसकी परीक्षाके लिये उसे चकोरके सामने रख देते हैं । विषमिश्रित अन्नको देखकर चकोरकी ऑखोंका रग बदल जाता है । इस प्रकार चकोरका केवल सन्निधिमात्रसे ही राजाकी भोजनमें प्रवृत्ति हो जाती है । इसके लिये उसे और कुछ नही करना पडता ।

पद-भाष्य

अतोऽन्यत्कूटस्थं नित्यं वस्तु बुभुत्समानः पृच्छतीति सामर्थ्यादुपपद्यते। इतरथा इच्छावाक्कर्मभिर्देहादिसंघातस्य प्रेरयितृत्वं प्रसिद्धमिति प्रश्नोऽनर्थक एव स्यात्।

और इनसे पृथक् कूटस्थ नित्य वस्तुको जाननेकी इच्छा करनेवाला है वही यह बात पूछ रहा है। अन्यथा इच्छा, वाक् और कर्मके द्वारा तो इस देहादि सङ्घातका प्रेरकत्व प्रसिद्ध ही है [अर्थात् इच्छा, वाणी और कर्मके द्वारा यह देहादि सङ्घात मनको प्रेरित किया करता है—इस बातको तो सभी जानते हैं]। अतः यह प्रश्न निरर्थक ही हो जाता।

एवमपि प्रेपितशब्दस्यार्थो न प्रदर्शित एव।

शङ्का—किन्तु इस प्रकार भी 'प्रेपित' शब्दका अर्थ तो प्रदर्शित हुआ ही नहीं।

न; संशयवतोऽयं प्रश्न इति प्रेपितशब्दस्यार्थविशेष उपपद्यते। किं यथाप्रसिद्धमेव कार्यकारणसंघातस्य प्रेषयितृत्वम्, किं वा संघातव्यतिरिक्तस्य स्वतन्त्रस्य इच्छामात्रेणैव मनआदिप्रेषयितृ-

समाधान—नहीं, यह प्रश्न किसी संशयालुका है इसीसे 'प्रेपित' शब्दका अर्थविशेष उपपन्न हो सकता है [अर्थात् जिसे ऐसा सन्देह है कि] यह प्रेरक-भाव सर्वप्रसिद्ध भूत और इन्द्रियोंके संघातरूप देहमें है, अथवा उस सङ्घातसे भिन्न किसी स्वतन्त्र वस्तुमें ही केवल इच्छामात्रसे मन आदिकी प्रेरकता है ? इस

वाक्य-भाष्य

प्राण इति नासिकाभवः; प्रकरणात्। प्रथमत्वं प्रचलनक्रियायाः प्राणनिमित्तत्वात्स्वतो

यहाँ प्रकरणवश 'प्राण' शब्दसे नासिकामें रहनेवाला वायु समझना चाहिये। चलन-क्रिया प्राण-निमित्तक होनेसे प्राणको प्रधान माना गया है।

पद-भाष्य

त्वम्, इत्यस्यार्थस्य प्रदर्शनार्थं केनेषितं पतति प्रेषितं मन इति विशेषणद्वयमुपपद्यते ।

प्रकार इस अभिप्रायको प्रदर्शित करनेके लिये ही 'किसके द्वारा इच्छित और प्रेरित किया हुआ मन [अपने विषयकी ओर] जाता है' ऐसे दो विशेषण ठीक हो सकते है ।

मन-प्रभृतीनां पारतन्त्र्य-प्रदर्शनम्

ननु स्वतन्त्रं मनः स्वविषये स्वयं पततीति प्रसिद्धम्; तत्र कथं प्रश्न उपपद्यत इति, उच्यते—यदि स्वतन्त्रं मनः प्रवृत्तिनिवृत्तिविषये स्यात्, तर्हि सर्वस्य अनिष्टचिन्तनं न स्यात् । अनर्थं च जानन्सङ्कल्पयति । अभ्यग्र-

यदि कहो कि यह बात तो प्रसिद्ध ही है कि मन स्वतन्त्र है और वह स्वयं ही अपने विषयोकी ओर जाता है; फिर उसके विषयमे यह प्रश्न कैसे बन सकता है ? तो इसके उत्तरमें हमारा कहना है कि यदि मन प्रवृत्ति-निवृत्तिमे स्वतन्त्र होता तो सभीको अनिष्ट-चिन्तन होना ही नहीं चाहिये था । किन्तु मन जान-बूझकर भी अनर्थ-चिन्तन करता है और रोके

वाक्य-भाष्य

विषयावभासमात्रं करणानां प्रवृत्तिः । चलिक्रिया तु प्राणस्यैव मनआदिषु । तस्मात्प्राथम्यं प्राणस्य । प्रैति गच्छति युक्तः प्रयुक्त इत्येतत् । वाचो वदनं किं निमित्तं प्राणिनां चक्षुःश्रोत्रयोश्च को देवः प्रयोक्ता । करणानाम् अधिष्ठाता चेतनावान्यः स किंविशेषण इत्यर्थः ॥ १ ॥

इन्द्रियोकी स्वतः प्रवृत्ति तो केवल विषयोका प्रकाशनमात्र ही है । मन आदिमे चलन-क्रिया तो प्राणहीकी है; इसीलिये प्राणकी प्रधानता है । वह प्राण किससे युक्त अर्थात् प्रेरित होकर गमन करता यानी चलता है । वाणीका भाषण भी किस निमित्तसे होता है ? प्राणियोके नेत्र और श्रोत्रोको प्रेरित करनेवाला कौन देव है ? अर्थात् जो चेतन तत्त्व इन्द्रियोका अधिष्ठाता है वह किन विशेषणोसे युक्त है ? ॥ १ ॥

पद-भाष्य

दुःखे च कार्ये वार्यमाणमपि प्रवर्तत एव मनः। तस्माद्युक्त एव केनेषितमित्यादिप्रश्नः।

केन प्राणः युक्तः नियुक्तः प्रेरितः सन् प्रैति गच्छति स्वव्यापारं प्रति। प्रथम इति प्राणविशेषणं स्यात्, तत्पूर्वकत्वात् सर्वेन्द्रियप्रवृत्तीनाम्।

केन इषितां वाचम् इमां शब्दलक्षणां वदन्ति लौकिकाः। तथा चक्षुः श्रोत्रं च स्वे स्वे विषये क उ देवः द्योतनवान् युनक्ति नियुङ्क्ते प्रेरयति॥१॥

जानेपर भी अत्यन्त दुःखमय कार्यमे भी प्रवृत्त हो ही जाता है। अतः 'केनेषितम्' इत्यादि प्रश्न उचित ही है।

किसके द्वारा नियुक्त यानी प्रेरित हुआ प्राण अपने व्यापारमें प्रवृत्त होता है? 'प्रथम' यह प्राणका विशेषण हो सकता है, क्योंकि समस्त इन्द्रियोंकी प्रवृत्तियाँ प्राणपूर्वक ही होती है।

लौकिक पुरुष किसके द्वारा इच्छित यह शब्दरूपा वाणी बोलते है? तथा कौन देव—द्योतनवान् (प्रकाशमान्) व्यक्ति चक्षु एवं श्रोत्रेन्द्रियको अपने-अपने व्यापारमें नियुक्त—प्रेरित करता है॥१॥



पद-भाष्य

एवं पृष्टवते योग्यायाह गुरुः। शृणु यत् त्वं पृच्छसि, मनआदिकरणजातस्य को देवः स्वविषयं प्रति प्रेरयिता कथं वा प्रेरयतीति।

इस प्रकार पूछनेवाले योग्य शिष्यसे गुरुने कहा—तू जो पूछता है कि मन आदि इन्द्रियसमूहको अपने विषयोंकी ओर प्रेरित करनेवाला कौन देव है और वह उन्हे किस प्रकार प्रेरित करता है, सो सुन—

आत्माका सर्वनियन्तृत्व

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ २ ॥

जो श्रोत्रका श्रोत्र, मनका मन और वाणीका भी वाणी है वही प्राणका प्राण और चक्षुका चक्षु है [—ऐसा जानकर] धीर पुरुप संसारसे मुक्त होकर इस लोकसे जाकर अमर हो जाते है ॥ २ ॥

पद-भाष्य

श्रोत्रस्य श्रोत्रं शृणोत्यनेनेति श्रोत्रम्, शब्दस्य श्रवणं प्रति करणं शब्दाभिव्यञ्जकं श्रोत्रमिन्द्रियम्, तस्य श्रोत्रं सः यस्त्वया पृष्टः 'चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति' इति ।

श्रोत्रस्य श्रोत्रम्—जिससे श्रवण करते है वह 'श्रोत्र' है अर्थात् शब्दके श्रवणमे साधन यानी शब्दका अभिव्यञ्जक श्रोत्रेन्द्रिय है। उसका भी श्रोत्र वह है जिसके विपयमे तूने पूछा है कि 'चक्षु और श्रोत्रको कौन देव नियुक्त करता है ?'

वाक्य-भाष्य

श्रोत्रस्य श्रोत्रम् इत्यादिप्रतिवचनं निर्विशेषस्य निमित्तत्वार्थम्। विक्रियादिविशेषरहितस्यात्मनो मनआदिप्रवृत्तौ निमित्तत्वम् इत्येतच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादिप्रतिवचनस्यार्थः; अनुगमात्। तदनुगतानि ह्यत्रास्मिन्नर्थेऽक्षराणि।

'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि उत्तर देना निर्विशेष आत्माका निमित्तत्व बतलानेके लिये है। इस 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि रूपसे उत्तर देनेका यही तात्पर्य है कि विक्रिया आदि समस्त विशेषोंसे रहित आत्माका मन आदिकी प्रवृत्तिमे कारणत्व है[1] यही इससे जाना जाता है, क्योंकि इस श्रुतिके अक्षर भी इसी अर्थमे अनुगत है।

१—अर्थात् वह सर्वथा निर्विकार और निर्विशेष होनेपर भी मन आदिको प्रेरित करनेवाला है।

पद-भाष्य

असावेवंविशिष्टः श्रोत्रादीनि नियुङ्क्त इति वक्तव्ये, नन्वेतदननुरूपं प्रतिवचनं श्रोत्रस्य श्रोत्रमिति ।

शङ्का—प्रश्नके उत्तरमे तो यह बतलाना चाहिये था कि इस प्रकारके गुणोवाला व्यक्ति श्रोत्रादिको प्रेरित करता है; उसमे यह कहना कि वह श्रोत्रका श्रोत्र है—ठीक उत्तर नही है ।

नैष दोषः, तस्यान्यथाविशेषानवगमात् । यदि हि श्रोत्रादिव्यापारव्यतिरिक्तेन स्वव्यापारेण विशिष्टः श्रोत्रादिनियोक्ता अवगम्येत दात्रादिप्रयोक्तृवत्, तदेदमननुरूपं प्रतिवचनं स्यात् । न त्विह श्रोत्रादीनां प्रयोक्ता स्वव्यापारविशिष्टो लवित्रादिवदधिगम्यते । श्रोत्रादीनामेव तु संहतानां व्यापारेणालोचनसङ्कल्पाध्यवसायलक्षणेन फलाव-

समाधान—यह कोई दोप नही है, क्योंकि उस प्रेरकका और किसी प्रकार कोई विशेषरूप नही जाना जा सकता । यदि दराँती आदिका प्रयोग करनेवालेके समान श्रोत्रादि व्यापारसे अतिरिक्त किसी अपने व्यापारसे विशिष्ट कोई श्रोत्रादिका नियोक्ता ज्ञात होता तो यह उत्तर अनुचित होता । किन्तु यहाँ खेत काटनेवालेके समान कोई श्रोत्रादिका स्वव्यापारविशिष्ट प्रयोक्ता ज्ञात नही है । अवयव-सहयोगसे उत्पन्न हुए श्रोत्रादिका जो चिदाभासकी फलव्यापिका लिङ्गरूप आलोचना, सङ्कल्प एवं निश्चय आदिरूप व्यापार है उसीसे यह

वाक्य-भाष्य

कथम् ? शृणोत्यनेनेति श्रोत्रम्; तस्य शब्दावभासकत्वं श्रोत्रत्वम् । शब्दोपलब्धृरूपतयावभासकत्वं न स्वतः, श्रोत्रस्याचिद्रूपत्वात्, आत्मनश्च चिद्रूपत्वात् ।

कैसे ? [सो इस प्रकार कि] जिससे प्राणी सुनते हैं उसे 'श्रोत्र' कहते है । उसका जो शब्दको प्रकाशित करना है वह 'श्रोत्रत्व' है । श्रोत्रका जो शब्दके उपलब्धारूपसे प्रकाशकत्व है वह स्वतः नही है, क्योंकि वह अचेतन है और आत्मा चेतनरूप है ।

पद-भाष्य

सानलिङ्गेनावगम्यते—अस्ति हि श्रोत्रादिभिरसंहतः, यत्प्रयोजनप्रयुक्तः श्रोत्रादिकलापः गृहादिवदिति । संहतानां परार्थत्वाद् अवगम्यते श्रोत्रादीनां प्रयोक्ता। तस्मादनुरूपमेवेदं प्रतिवचनं श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादि ।

जाना जाता है कि गृह आदिके समान जिसके प्रयोजनसे श्रोत्रादि कारण-कलाप प्रवृत्त हो रहा है वह श्रोत्रादिसे असंहत (पृथक्) कोई तत्त्व अवश्य है। संहत पदार्थ परार्थ (दूसरेके साधनरूप) हुआ करते है; इसीसे कोई श्रोत्रादिका प्रयोक्ता अवश्य है—यह जाना जाता है। अतः यह 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि उत्तर ठीक ही है।

आत्मनः श्रोत्रादिप्रकाशकत्वम्

कः पुनरत्र पदार्थः श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादेः ? न ह्यत्र श्रोत्रस्य श्रोत्रान्तरेणार्थः, यथा प्रकाशस्य प्रकाशान्तरेण ।

शङ्का—किन्तु इस 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि पदका यहाँ क्या अर्थ अभिप्रेत है ? क्योंकि जिस तरह एक प्रकाशको दूसरे प्रकाशका प्रयोजन नहीं होता उसी तरह एक श्रोत्रको दूसरे श्रोत्रसे तो कोई प्रयोजन है ही नहीं।

वाक्य-भाष्य

यच्छ्रोत्रस्योपलब्धृत्वेनावभासकत्वं तदात्मनिमित्तत्वाच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रमित्युच्यते; यथा क्षत्रस्य क्षत्रं यथा वोदकस्यौष्ण्यमग्निनिमित्तमिति दग्धुरप्युदकस्य दग्धाग्निरुच्यते; उदकमपि ह्यग्निसंयोगादग्निरुच्यते, तद्वद्

श्रोत्रका जो उपलब्धारूपसे अवभासकत्व है वह आत्मनिमित्तक होनेसे आत्माको 'श्रोत्रका श्रोत्र' ऐसा कहा जाता है, जैसे क्षत्रिय जातिका [नियामक कर्म] क्षत्र कहलाता है, अथवा जैसे [उष्ण] जलकी उष्णता अग्निके कारण होती है; इसलिये उस जलानेवाले जलको भी जलानेवाला अग्नि कहा जाता है; और अग्निके संयोगसे जल भी अग्नि कहा जाता है, उसी प्रकार [प्रमाता

पद-भाष्य

नैष दोषः। अयमत्र पदार्थः—श्रोत्रं तावत्स्वविषयव्यञ्जनसमर्थं दृष्टम्। तत्तु स्वविषयव्यञ्जनसामर्थ्यं श्रोत्रस्य चैतन्ये ह्यात्मज्योतिषि नित्येऽसंहते सर्वान्तरे सति भवति, न असति इति। अतः श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्याद्युपपद्यते। तथा च श्रुत्यन्तराणि—"आत्मनैवायं ज्योतिषास्ते" (बृ० उ० ४।३।६) "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" (क० उ० २।२।१५, श्वे० ६।१४, मु० २।२।१०) "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" (तै० ब्रा० ३।१२।९।७) इत्यादीनि।

समाधान—यह भी कोई दोष नहीं है। यहाँ इस पदका अर्थ इस प्रकार है—श्रोत्र अपने विषयको अभिव्यक्त करनेमे समर्थ है—यह देखा ही जाता है। किन्तु श्रोत्रका वह अपने विषयको अभिव्यक्त करनेका सामर्थ्य नित्य, असंहत, सर्वान्तर चेतन आत्मज्योतिके रहनेपर ही रह सकता है, न रहनेपर नहीं रह सकता। अतः उसे 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि कहना उचित ही है। "यह अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित है" "उसके प्रकाशसे ही यह सब प्रकाशित होता है" "जिस तेजसे प्रदीप्त हुआ सूर्य तपता है" इत्यादि श्रुतियाँ भी इसी अर्थकी द्योतक हैं। तथा

वाक्य-भाष्य

अनित्यं यत्संयोगादुपलब्धृत्वं तत्करणं श्रोत्रादि। उदकस्येव दग्धृत्वमनित्यं हि तत्र तत्। यत्र तु नित्यमुपलब्धृत्वमग्नाविवौष्ण्यं स नित्योपलब्धिस्वरूपत्वाद्दग्धेवोपलब्धोच्यते। श्रोत्रादिषु श्रोतृत्वाद्युपलब्धिरनित्या नित्या चात्मन्यतः श्रोत्रस्य

आत्मामे] जिनके संयोगसे अनित्य उपलब्धृत्व है वे श्रोत्रादि करण कहलाते है। जलके दाहकत्वके समान आत्मामे उपलब्धृत्व अनित्य ही है। जैसे अग्निमे नित्य उष्णता रहनेके कारण वह दग्धा कहलाता है उसी प्रकार जिसमे नित्य-उपलब्धृत्व रहता है वह नित्य उपलब्धिस्वरूप होनेके कारण उपलब्धा कहा जाता है। श्रोत्रादि निमित्तोंके होनेपर जो आत्मामे श्रोतृत्वादिकी उपलब्धि होती है वह अनित्य है और केवल आत्मामे वह नित्य है, अतः 'श्रोत्रस्य

पद-भाष्य

"यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्" (गीता १५। १२) "क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत" (गीता १३। ३३) इति च गीतासु। काठके च "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" (२। २। १३) इति। श्रोत्राद्येव सर्वस्यात्मभूतं चेतनमिति प्रसिद्धम्; तदिह निवर्त्यते। अस्ति किमपि विद्वद्बुद्धिगम्यं सर्वान्तरतमं कूटस्थमजमजरममृतमभयं श्रोत्रादेरपि श्रोत्रादि तत्सामर्थ्यनिमित्तम् इति प्रतिवचनं शब्दार्थश्चोपपद्यत एव।

गीतामे भी कहा है—"जो तेज सूर्यमें स्थित होकर सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है" "हे भारत! इसी प्रकार सम्पूर्ण क्षेत्रको क्षेत्री प्रकाशित करता है।" कठोपनिषत्मे भी कहा है—"वह नित्योंका नित्य और चेतनोंका चेतन है" इत्यादि। श्रोत्रादि इन्द्रियवर्ग ही सबका आत्मभूत चेतन है—यह बात [लोकमे] प्रसिद्ध है। उस भ्रान्तिका इस पदसे निराकरण किया जाता है। अतः श्रोत्रादिका भी श्रोत्रादि अर्थात् उनकी सामर्थ्यका निमित्तभूत ऐसा कोई पदार्थ है जो आत्मवेत्ताओंकी बुद्धिका विषय, सबसे अन्तरतम, कूटस्थ, अजन्मा, अजर, अमर और अभयरूप है—इस प्रकार यह उत्तर और शब्दार्थ ठीक ही है।

वाक्य-भाष्य

श्रोत्रमित्याद्यक्षराणामर्थानुगमाद् उपपद्यते निर्विशेषस्योपलब्धिस्वरूपस्यात्मनो मनआदिप्रवृत्तिनिमित्तत्वमिति। मन आदिष्वेवं यथोक्तम्।

श्रोत्रम्' इत्यादि अक्षरोंके अर्थके अनुगमसे नित्योपलब्धिस्वरूप निर्विशेष आत्माका मन आदिकी प्रवृत्तिमे कारण होना ठीक ही है। इसी प्रकार [जैसा कि 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' के विषयमे कहा गया है] मन, वाक् और प्राणादिके सम्बन्धमे भी समझ लेना चाहिये।

पद-भाष्य

तथा मनसः अन्तःकरणस्य मनः । न ह्यन्तःकरणम् अन्तरेण चैतन्यज्योतिषो दीधितिं स्वविषयसङ्कल्पाध्यवसायादिसमर्थं स्यात् । तस्मान्मनसोऽपि मन इति । इह बुद्धिमनसी एकीकृत्य निर्देशो मनस इति ।

इसी प्रकार वह मनका—अन्तःकरणका मन है, क्योंकि चिज्ज्योतिके प्रकाशके बिना अन्तःकरण अपने विषय सङ्कल्प और अध्यवसाय (निश्चय) आदिमे समर्थ नही हो सकता । अतः वह मनका भी मन है । यहाँ बुद्धि और मनको एक मानकर मनका निर्देश किया गया है ।

यद्वाचो ह वाचम्; यच्छब्दो यस्मादर्थे श्रोत्रादिभिः सर्वैः सम्बध्यते—यस्माच्छ्रोत्रस्य श्रोत्रम्, यस्मान्मनसो मन इत्येवम् । वाचो ह वाचमिति द्वितीया प्रथमात्वेन विपरिणम्यते, प्राणस्य प्राण इति दर्शनात् । वाचो ह

यद्वाचो ह वाचम्—यहाँ कि 'यत्' शब्दका 'यस्मात्' अर्थ (हेत्वर्थ) मे 'क्योंकि वह श्रोत्रका श्रोत्र है, क्योंकि वह मनका मन है' इस प्रकार श्रोत्रादि सभी पदोसे सम्बन्ध है । 'वाचो ह वाचम्' इस पदसमूहमे 'वाचम्' पदकी द्वितीया विभक्ति प्रथमा विभक्तिके रूपमे परिणत कर ली जाती है, जैसा कि 'प्राणस्य प्राणः' मे देखा जाता है । यदि कहो कि 'वाचो

वाक्य-भाष्य

वाचो ह वाचं प्राणस्य प्राण इति विभक्तिद्वयं सर्वत्रैव द्रष्टव्यम् । कथम् ? पृष्टत्वात्स्वरूपनिर्देशः, प्रथमयैव च निर्देशः । तस्य च

यहाँ 'वाचो ह वाचम्' तथा 'प्राणस्य प्राणः' इस प्रकार [पिछले पदमे] सर्वत्र ही [प्रथमा और द्वितीया] दो विभक्ति समझनी चाहिये, क्यो ? क्योकि आत्मा-विषयक प्रश्न होनेके कारण उसके स्वरूपका निर्देश किया गया है और निर्देश प्रथमा विभक्तिसे ही किया जाता है; तथा आत्मा ही

पद-भाष्य

वाचमित्येतदनुरोधेन प्राणस्य प्राणमिति कस्माद्द्वितीयैव न क्रियते? न; बहूनामनुरोधस्य युक्तत्वात्। वाचमित्यस्य वागित्येतावद्वक्तव्यं स उ प्राणस्य प्राण इति शब्दद्वयानुरोधेन; एवं हि बहूनामनुरोधो युक्तः कृतः स्यात्।

ह वाचम्' इस प्रयोगके अनुरोधसे 'प्राणस्य प्राणम्' इस प्रकार द्वितीया ही क्यों नहीं कर ली जाती? तो ऐसा कहना उचित नहीं क्योंकि बहुतोंका अनुरोध मानना ही युक्तिसङ्गत है। अतः 'स उ प्राणस्य प्राणः' इस पदसमूहके [स और प्राणः] दो शब्दोंके अनुरोधसे 'वाचम्' इस शब्दको ही 'वाक्' इतना कहना चाहिये। ऐसा करनेसे ही बहुतोंका अनुरोध युक्त (स्वीकार) किया समझा जायगा।

पृष्टं च वस्तु प्रथमयैव निर्देष्टुं युक्तम्। स यस्त्वया पृष्टः प्राणस्य प्राणाख्यवृत्तिविशेषस्य प्राणः तत्कृतं हि प्राणस्य प्राणनसामर्थ्यम्। न ह्यात्मनानधिष्ठितस्य प्राणनमुपपद्यते, "को ह्येवान्यात्कः

इसके सिवा, पूछी हुई वस्तुका निर्देश प्रथमा विभक्तिसे ही करना उचित है। [अभिप्राय यह कि] जिसके विषयमें तूने पूछा है वह प्राणका यानी प्राण नामक वृत्ति-विशेषका प्राण है। उसके कारण ही प्राणका प्राणनसामर्थ्य है, क्योंकि आत्मासे अनधिष्ठित प्राणका प्राणन सम्भव नहीं है, जैसा कि

वाक्य-भाष्य

ज्ञेयत्वात्कर्मत्वमिति द्वितीया। अतो वाचो ह वाचं प्राणस्य प्राण इत्यस्मात्सर्वत्रैव विभक्तिद्वयम्।

ज्ञेय है, इसलिये उसमें कर्मत्व रहनेके कारण द्वितीया भी ठीक है। अतः 'वाचो ह वाचम्' तथा 'प्राणस्य प्राणः' इस कथनके अनुसार सभी जगह दो विभक्ति समझनी चाहिये। [अर्थात् सभी पदोंमें ये दोनों विभक्तियाँ रह सकती हैं।]

पद-भाष्य

प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" (तै० उ० २।७।१) "ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति" (क० उ० २।२।३) इत्यादिश्रुतिभ्यः। इहापि च वक्ष्यते येन प्राणः प्रणीयते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि इति।

"यदि यह आनन्दस्वरूप आकाश न होता तो कौन जीवित रहता और कौन श्वासोच्छ्वास करता" "यह प्राणको ऊपर ले जाता है तथा अपानको नीचेकी ओर छोड़ता है" इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है। यहाँ (इस उपनिषद्‌में) भी यह कहेंगे ही कि जिसके द्वारा प्राण प्राणन करता है उसीको तू ब्रह्म जान।

श्रोत्रादीन्द्रियप्रस्तावे घ्राणस्यैव ग्रहणम् युक्तं न तु प्राणस्य।

शङ्का—परन्तु यहाँ श्रोत्रादि इन्द्रियोंके प्रसङ्गमें घ्राणको ही ग्रहण करना युक्तियुक्त है, प्राणको नहीं।

सत्यमेवम्; प्राणग्रहणेनैव तु घ्राणस्य ग्रहणं कृतमेव मन्यते श्रुतिः। सर्वस्यैव करणकलापस्य यदर्थप्रयुक्ता प्रवृत्तिः; तद्ब्रह्मेति प्रकरणार्थो विवक्षितः।

समाधान—यह ठीक है। किन्तु श्रुति, प्राणको ग्रहण करनेसे ही घ्राणका भी ग्रहण किया मानती है। इस प्रकरणको यही अर्थ बतलाना अभीष्ट है कि जिसके लिये सम्पूर्ण इन्द्रिय-समूहकी प्रवृत्ति है वही ब्रह्म है।

वाक्य-भाष्य

आत्मज्ञानेन अमृतत्व-निरूपणम्

यदेतच्छ्रोत्राद्युपलब्धिनिमित्तं श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादिलक्षणं नित्योपलब्धिस्वरूपं निर्विशेषमात्मतत्त्वं तद्बुद्ध्वातिमुच्यानवबोधनिमित्ताध्यारोपिताद् बुद्ध्यादिलक्षणात्संसारान्मोक्षणं कृत्वा धीरा

यह जो श्रोत्रादिकी उपलब्धिका निमित्तभूत तथा 'श्रोत्रका श्रोत्र' इत्यादि लक्षणोंवाला नित्योपलब्धिस्वरूप निर्विशेष आत्मतत्त्व है उसे जानकर, अज्ञानके कारण आरोपित बुद्धि आदि लक्षणोंवाले संसारसे छूटकर—उससे मुक्त होकर, धीर—

पद-भाष्य

तथा चक्षुषश्चक्षू रूपप्रकाशकस्य चक्षुषो यद्रूपग्रहणसामर्थ्यं तदात्मचैतन्याधिष्ठितस्यैव । अतः चक्षुषश्चक्षुः ।

तथा [वह ब्रह्म] चक्षुका चक्षु है । रूपको प्रकाशित करनेवाले चक्षु-इन्द्रियमे जो रूपको ग्रहण करनेका सामर्थ्य है वह आत्म-चैतन्यसे अधिष्ठित होनेके कारण ही है । इसलिये वह चक्षुका चक्षु है ।

आत्मविदोऽमृतत्वनिरूपणम्

प्रष्टुः पृष्टस्यार्थस्य ज्ञातुमिष्टत्वात् श्रोत्रादेः श्रोत्रादिलक्षणं यथोक्तं ब्रह्म 'ज्ञात्वा' इत्यध्याह्रियते; अमृता भवन्ति इति फलश्रुतेश्च । ज्ञानाद्ध्यमृतत्वं प्राप्यते । ज्ञात्वा विमुच्यते इति सामर्थ्यात् । श्रोत्रादिकरणकलापमुज्झित्वा—श्रोत्रादौ ह्यात्मभावं कृत्वा, तदुपाधिः सन्, तदात्मना जायते म्रियते संसरति च ।

प्रश्न-कर्ताको अपने पूछे हुए पदार्थको जाननेकी इच्छा हुआ ही करती है; अतः 'अमृता भवन्ति' (अमर हो जाते है) ऐसी फल-श्रुति होनेके कारण उपर्युक्त श्रोत्रादिके श्रोत्रादिरूप ब्रह्मको जानकर—इस प्रकार यहाँ 'ज्ञात्वा' क्रियाका अध्याहार किया जाता है, क्योकि ज्ञानसे ही अमरत्वकी प्राप्ति होती है, जैसा कि '[ब्रह्मको] जानकर मुक्त हो जाता है' इस उक्तिकी सामर्थ्यसे सिद्ध होता है । जीव श्रोत्रादि करणकलापको त्यागकर —श्रोत्रादिमे ही आत्मभाव करके उनकी उपाधिसे युक्त होकर जन्मता, मरता और संसारको प्राप्त

वाक्य-भाष्य

धीमन्तः प्रेत्यास्माल्लोकाच्छरीरात् प्रेत्य वियुज्यान्यस्मिन्नप्रतिसन्धीयमाने निर्निमित्तत्वादमृता भवन्ति ।

बुद्धिमान् लोग इस लोकसे जाकर अर्थात् इस शरीरसे पृथक् होकर दूसरे शरीरका अनुसन्धान न करनेके कारण अन्य कोई प्रयोजन न रहनेसे अमृत हो जाते है ।

पद-भाष्य

अतः श्रोत्रादेः श्रोत्रादिलक्षणं ब्रह्मात्मेति विदित्वा, अतिमुच्य श्रोत्राद्यात्मभावं परित्यज्य—ये श्रोत्राद्यात्मभावं परित्यजन्ति, ते धीराः धीमन्तः; न हि विशिष्टधीमत्त्वमन्तरेण श्रोत्राद्यात्मभावः शक्यः परित्यक्तुम्—प्रेत्य व्यावृत्य अस्मात् लोकात् पुत्रमित्रकलत्रबन्धुषु ममाहंभावसंव्यवहारलक्षणात्, त्यक्तसर्वैषणा भूत्वेत्यर्थः अमृता अमरणधर्माणो भवन्ति ।

होता है। अतः श्रोत्रादिका श्रोत्रादिरूप ब्रह्म ही आत्मा है ऐसा जानकर और अतिमोचन करके अर्थात् श्रोत्रादिमे आत्मभावको त्यागकर धीर पुरुष 'प्रेत्य' अर्थात् पुत्र, मित्र, कलत्र और बन्धुओमे अहंता-ममताके व्यवहाररूप इस लोकसे विलग हो यानी सम्पूर्ण एषणाओसे मुक्त होकर अमृत—अमरणधर्मा हो जाते है । जो लोग श्रोत्रादिमे आत्मभावका त्याग करते है वे धीर यानी बुद्धिमान् होते हैं। क्योकि विशिष्ट बुद्धिमत्त्वके बिना श्रोत्रादिमे आत्मभावका त्याग नहीं किया जा सकता।

वाक्य-भाष्य

सति ह्यज्ञाने कर्माणि शरीरान्तरं प्रतिसन्दधते । आत्मावबोधे तु सर्वकर्मारम्भनिमित्ताज्ञानविपरीतविद्याग्निविप्लुष्टत्वात् कर्मणामनारम्भेऽमृता एव भवन्ति। शरीरादिसन्तानाविच्छेदप्रतिसन्धानाद्यपेक्षयाध्यारोपित-

अज्ञानके रहनेतक ही कर्म दूसरे शरीरकी खोज किया करते है। आत्मज्ञान हो जानेपर तो सम्पूर्ण कर्मोके आरम्भक अज्ञानसे विपरीत ज्ञानरूप अग्निद्वारा कर्मोंके दग्ध हो जानेपर फिर प्रारब्ध निःशेष हो जानेके कारण वे अमृत ही हो जाते है । [अनादि संसारपरम्परासे 'मै शरीर हूँ' ऐसे अध्यासके कारण] 'पुनः पुनः शरीरप्राप्तिरूप परम्पराका विच्छेद न हो' ऐसा अनुसन्धान करते रहनेके कारण अपने ऊपर आरोपित

पद-भाष्य

"न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" (कैवल्य० १ । २) "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्"(क०उ० २।१।१) "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः······ अत्र ब्रह्म समश्नुते" (क० उ० २।३।१४) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अथवा, अतिमुच्येत्यनेनैवैषणात्यागस्य सिद्धत्वाद् अस्माल्लोकात् प्रेत्य अस्माच्छरीरादपेत्य मृत्वेत्यर्थः ॥२॥

"कर्मसे, प्रजासे अथवा धनसे नहीं, किन्हीं-किन्हीने केवल त्यागसे ही अमरत्व लाभ किया है" "स्वयम्भूने इन्द्रियोंको बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है इसलिये जीव बाह्य वस्तुओंको ही देखता है, अपने अन्तरात्माको नहीं देखता। कोई बुद्धिमान् पुरुष अमरत्वकी इच्छासे इन्द्रियोंको रोककर अपने प्रत्यगात्माको देखता है" "जिस समय इसके हृदयकी कामनाएँ छूट जाती है····इस अवस्थामे वह ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है" इत्यादि श्रुतियोंसे भी यही सिद्ध होता है। अथवा एषणात्याग तो 'अतिमुच्य' इस पदसे ही सिद्ध हो जाता है, अतः 'अस्माल्लोकात्प्रेत्य' का यह भाव समझना चाहिये कि इस शरीरसे अलग होकर यानी मरकर [अमर हो जाते है] ॥ २ ॥



यस्माच्छ्रोत्रादेरपि श्रोत्राद्यात्मभूतं ब्रह्म, अतः।

क्योंकि ब्रह्म श्रोत्रादिका भी श्रोत्रादिरूप है, इसलिये—

वाक्य-भाष्य

मृत्युवियोगात्पूर्वमप्यमृताः सन्तो नित्यात्मस्वरूपवत्त्वादमृता भवन्ति इत्युपचर्यते ॥ २ ॥

की हुई अज्ञानरूप मृत्युका वियोग होनेसे पूर्व भी नित्य आत्मस्वरूप होनेके कारण यद्यपि अमृत ही रहते है तथापि अमर होते है—ऐसा उपचारसे कहा जाता है ॥ २ ॥



आत्माका अज्ञेयत्व और अनिर्वचनीयत्व

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ॥३॥

वहाँ (उस ब्रह्मतक) नेत्रेन्द्रिय नहीं जाती, वाणी नहीं जाती, मन नहीं जाता । अतः जिस प्रकार शिष्यको इस ब्रह्मका उपदेश करना चाहिये, वह हम नहीं जानते—वह हमारी समझमें नहीं आता । वह विदितसे अन्य ही है तथा अविदितसे भी परे है—ऐसा हमने पूर्व-पुरुषोंसे सुना है, जिन्होंने हमारे प्रति उसका व्याख्यान किया था ॥ ३ ॥

पद-भाष्य

न तत्र तस्मिन्ब्रह्मणि चक्षुः गच्छति, स्वात्मनि गमनासम्भवात्। तथा न वाग् गच्छति। वाचा हि शब्द उच्चार्यमाणोऽभिधेयं प्रकाशयति यदा, तदाभिधेयं प्रति वाग्गच्छतीत्युच्यते ।

वहाँ—उस ब्रह्ममें नेत्रेन्द्रिय नहीं जाती, क्योंकि अपनेहीमें अपनी गति होनी असम्भव है। और न वाणी ही पहुँचती है । जिस समय वाणीसे उच्चारण किया हुआ शब्द अपने वाच्यको प्रकाशित करता है उस समय ही, अपने वाच्यतक वाणी पहुँचती है—ऐसा कहा जाता है ।

वाक्य-भाष्य

न तत्र चक्षुर्गच्छति इत्युक्तेऽपि पर्यनुयोगे हेतुरप्रतिपत्तेः। श्रोत्रस्य श्रोत्रमित्येवमादिना उक्तेऽप्यात्मतत्त्वेऽप्रतिपन्नत्वात् सूक्ष्मत्वहेतोर्वस्तुनः पुनः पुनः पर्यनुयुयुक्षाकारणमाह—न

यद्यपि आचार्यने तत्त्वका निरूपण कर दिया तो भी न समझनेके कारण शिष्यके पुनः प्रश्न करनेमें 'वहाँ नेत्रेन्द्रिय नहीं जाती' इत्यादि कारण है। अर्थात् 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि श्रुतिसे आत्मतत्त्वका निरूपण कर दिये जानेपर भी आत्मतत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण समझमें न आनेसे शिष्यको जो पुनः पूछनेकी इच्छा हुई उसका कारण 'न तत्र चक्षुर्गच्छति'

पद-भाष्य

तस्य च शब्दस्य तन्निर्वर्तकस्य च करणस्यात्मा ब्रह्म। अतो न वाग्गच्छति यथाग्निर्दाहकः प्रकाशकश्चापि सन् न ह्यात्मानं प्रकाशयति दहति वा, तद्वत्।

किन्तु ब्रह्म तो शब्द और उसका व्यवहार करनेवाले इन्द्रियका आत्मा है। अतः वाणी वहाँ उसी प्रकार नहीं पहुँच सकती, जैसे कि अग्नि दाहक और प्रकाशक होनेपर भी अपनेको न जलाता है और न प्रकाशित ही करता है।

नो मनः मनश्चान्यस्य सङ्कल्पयितृ अध्यवसायितृ च सत् नात्मानं सङ्कल्पयत्यध्यवस्यति च, तस्यापि ब्रह्मात्मेति। इन्द्रियमनोभ्यां हि वस्तुनो विज्ञानम्। तदगोचरत्वान्न विद्मः तद्ब्रह्म ईदृशमिति।

और न मन ही [वहाँतक जाता है]। मन भी अन्य पदार्थोंका सङ्कल्प और निश्चय करनेवाला होता हुआ भी अपना सङ्कल्प या निश्चय नहीं करता है, क्योंकि ब्रह्म उसका भी आत्मा है। इन्द्रिय और मनसे ही वस्तुका ज्ञान हुआ करता है; उनका अविषय होनेके कारण हम यह नहीं जानते कि वह ब्रह्म ऐसा है।

वाक्य-भाष्य

तत्र चक्षुर्गच्छतीति। तत्र श्रोत्राद्यात्मभूते चक्षुरादीनि वाक्चक्षुषोः सर्वेन्द्रियोपलक्षणार्थत्वान्न विज्ञानमुत्पादयन्ति।

इत्यादि श्रुतिसे बतलाया गया है। श्रोत्रादिके आत्मस्वरूप उस आत्मतत्त्वके विषयमें चक्षु आदि इन्द्रियाँ ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकतीं, क्योंकि यहाँ वाक् और चक्षु सभी इन्द्रियोंका उपलक्षण करनेके लिये है।

सुखादिवत्तर्हि गृह्येतान्तःकरणेनात आह—नो मनः। न

[इसपर सन्देह होता है—] तो फिर सुखादिके समान उसका अन्तःकरणसे ग्रहण हो सकता होगा? [इसपर कहते हैं—] मन भी उसतक

पद-भाष्य

अतो न विजानीमो यथा येन प्रकारेण एतद् ब्रह्म अनुशिष्यात् उपदिशेच्छिष्यायेत्यभिप्रायः । यद्धि करणगोचरं तदन्यस्मै उपदेष्टुं शक्यं जातिगुणक्रियाविशेषणैः। न तज्जात्यादिविशेषणवद्ब्रह्म तस्माद्विषमं शिष्यानुपदेशेन प्रत्याययितुमिति उपदेशे तदर्थग्रहणे च यत्नातिशयकर्तव्यतां दर्शयति ।

अतः जिस प्रकारसे इस ब्रह्मका अनुशासन—शिष्यके प्रति उपदेश किया जाय—यह हम नहीं जानते ऐसा इसका अभिप्राय है। जो वस्तु इन्द्रियोंका विषय होती है उसीका जाति, गुण और क्रियारूप विशेषणोंद्वारा दूसरेको उपदेश किया जा सकता है। किन्तु ब्रह्म उन जाति आदि विशेषणोंवाला नहीं है। अतः शिष्योंको उपदेशद्वारा उसकी प्रतीति कराना बहुत कठिन है—इस प्रकार श्रुति उपदेश और उसके अर्थका ग्रहण करनेमें अधिक प्रयत्न करनेकी आवश्यकता दिखलाती है।

वाक्य-भाष्य

सुखादिवन्मनसो विषयस्तत् ; इन्द्रियाविषयत्वात् ।

न विद्मो न विजानीमोऽन्तःकरणेन यथैतद्ब्रह्म मन आदिकरणजातमनुशिष्याद् अनुशासनं कुर्यात्प्रवृत्तिनिमित्तं भवेत्तथाविषयत्वान्न विद्मो न विजानीमः।

नहीं पहुँचता। वह सुखादिके समान मनका भी विषय नहीं है, क्योंकि वह इन्द्रियोंका अविषय है।

यह ब्रह्म मन आदि इन्द्रियसमूहका जिस प्रकार अनुशासन करता है अर्थात् जिस प्रकार उनकी प्रवृत्तिका कारण होता है—इन्द्रियोंका अविषय होनेके कारण—इस सम्बन्धमें अपने अन्तःकरणद्वारा हम कुछ नहीं जानते अर्थात् कुछ नहीं समझते।

पद-भाष्य

'न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्' इति अत्यन्तम् एवोपदेशप्रकारप्रत्याख्याने प्राप्ते तदपवादोऽयमुच्यते । सत्यमेवं प्रत्यक्षादिभिः प्रमाणैर्न परः प्रत्याययितुं शक्यः; आगमेन तु शक्यत एव प्रत्याययितुमिति तदुपदेशार्थमागममाह—

[पूर्वोक्त श्रुतिके] 'न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्' इस वाक्यसे उपदेशके प्रकारका अत्यन्त निषेध प्राप्त होनेपर उसका यह अपवाद कहा जाता है । यह ठीक है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे परमात्माकी प्रतीति नहीं करायी जा सकती, किन्तु शास्त्रसे तो उसकी प्रतीति करायी ही जा सकती है—अतः उसके उपदेशके लिये शास्त्रप्रमाण देते है—

वाक्य-भाष्य

अथवा श्रोत्रादीनां श्रोत्रादिलक्षणं ब्रह्म विशेषेण दर्शयेत्युक्त आचार्य आह न शक्यते दर्शयितुम् । कस्मात् ? न तत्र चक्षुर्गच्छति इत्यादि पूर्ववत्सर्वम् । अत्र तु विशेषो यथैतदनुशिष्यादिति । यथैतदनुशिष्यात् प्रतिपादयेत् अन्योऽपि शिष्यानितोऽन्येन विधिनेत्यभिप्रायः ।

अथवा शिष्यके यह कहनेपर कि 'श्रोत्रादिके श्रोत्रादिरूप ब्रह्मको विशेषरूपसे दिखलाओ' आचार्य कहते है कि 'उसे दिखाया नही जा सकता।' क्यो ? 'क्योंकि उसतक नेत्र नही पहुँच सकते' इत्यादि प्रकारसे सबका आशय पूर्ववत् समझना चाहिये । यहाँ 'यथैतदनुशिष्यात्' इस वाक्यका विशेष तात्पर्य है; अर्थात् जिस किसी अन्य विधिसे कोई अन्य गुरु अपने शिष्योंको इसका अनुशासन—प्रतिपादन कर सकता है [वह हम नही जानते] ।

सर्वथापि ब्रह्म बोधयेत्युक्त आचार्य आह, अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधीत्यागमम् विदिताविदिताभ्यामन्य-

'परन्तु मुझे तो किसी भी तरह ब्रह्मका बोध करा ही दीजिये'—शिष्यके ऐसा कहनेपर आचार्य कहते है—'वह ब्रह्म जाने हुएसे अन्य है तथा बिना जानेसे भी परे है'—जाने और न जाने हुएसे भिन्न होना यही उपदेशकी परम्परा है । इसके सिवा

पद-भाष्य

अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधीति । अन्यदेव पृथगेव तद् यत्प्रकृतं श्रोत्रादीनां श्रोत्रादीत्युक्तमविषयश्च तेषाम् । तद् विदिताद् अन्यदेव हि । विदितं नाम यद्विदिक्रिययातिशयेनाप्तं

'वह विदितसे अन्य ही है और अविदितसे भी परे है ।' यहाँ जिस प्रकरणप्राप्त श्रोत्रादिके श्रोत्रादि और उनके अविषय ब्रह्मका उल्लेख किया गया है वह विदितसे अन्य—पृथक् ही है । वेदन-क्रियासे अत्यन्त व्याप्त अर्थात् वेदन-क्रियाकी कर्मभूत जो कुछ [नामरूपात्मक]

वाक्य-भाष्य

त्वम् । यो हि ज्ञाता स एव सः, सर्वात्मकत्वात् । अतः सर्वात्मनो ज्ञातुर्ज्ञात्रन्तराभावाद्विदितादन्यत्वम् । "स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता" (श्वे० उ० ३ । १९) इति च मन्त्रवर्णात् । "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" (बृ० उ० २ । ४ । १४) इति च वाजसनेयके । अपि च व्यक्तमेव विदितं तस्मादन्यदित्यभिप्रायः । यद्विदितं व्यक्तं तदन्यविषयत्वादल्पं सविरोधं ततोऽनित्यमत एवानेकत्वादशुद्धमत एव तद्विलक्षणं ब्रह्मेति सिद्धम् ।

जो कोई भी उसको जाननेवाला है वह स्वयं वही है, क्योंकि ब्रह्म सर्वात्मक है । अतः सबके आत्मारूप उस ज्ञाताके सिवा अन्य ज्ञाताका अभाव होनेके कारण वह, जितना कुछ जाना जाता है उससे भिन्न है; जैसा कि मन्त्रवर्ण भी कहता है—"वह सम्पूर्ण ज्ञेयको जानता है तथा उसका ज्ञाता और कोई नहीं है" तथा वाजसनेय-श्रुतिमें भी कहा है—"अरे ! उस विज्ञाताको किससे जाने ?" इसके सिवा व्यक्तको ही विदित कहा गया है, उससे भिन्न [यानी अव्यक्त] है यही इस [अन्यदेव विदितात्] का तात्पर्य है जो विदित अर्थात् व्यक्त होता है वह दूसरेका विषय होनेके कारण अल्प और सविरोध होता है ऐसा होनेसे अनित्य होता है, अतः अनेक होनेके कारण अशुद्ध भी होता है; इसलिये सिद्ध हुआ कि ब्रह्म उससे भिन्न प्रकारका ही है ।

पद-भाष्य

विदिक्रियाकर्मभूतं क्वचित् किञ्चित्कस्यचिद्विदितं स्यादिति। सर्वमेव व्याकृतं विदितमेव; तस्मादन्यदेवेत्यर्थः ।

अविदितमज्ञातं तर्हीति प्राप्ते आह—अथो अपि अविदिताद् विदितविपरीतादव्याकृताविद्या-

वस्तु कहीं-न-कहीं किसी-न-किसीको ज्ञात है उसीको 'विदित' कहते है। अतः सम्पूर्ण व्याकृत वस्तु 'विदित' ही है। उस [विदित वस्तु] से ब्रह्म पृथक् ही है—यह इसका तात्पर्य है।

तो फिर ब्रह्म अज्ञात है—ऐसा प्राप्त होनेपर कहते है—'वह अविदित—विदितसे विपरीत व्याकृत पदार्थोंकी बीजभूत अविद्यारूप

वाक्य-भाष्य

तर्ह्यविदितम् ।

न; विज्ञानानपेक्षत्वात् । यद्ध्य-

ब्रह्मणः स्वीय प्रकाशने अन्यानपेक्षत्वम्

विदितं तद्विज्ञानापेक्षम् । अविदितविज्ञानाय हि लोकप्रवृत्तिः । इदं तु विज्ञानानपेक्षं। कस्मात् ? विज्ञानस्वरूपत्वात् । न हि यस्य यत्स्वरूपं तत्तेनान्यतोऽपेक्ष्यते । न च स्वत एवापेक्षा अनपेक्षमेव सिद्धत्वात् । प्रदीपः स्वरूपाभिव्यक्तौ न प्रकाशान्तरमन्यतोऽपेक्षते स्वतो वा । यद्ध्यनपेक्षं तत्स्वत एव सिद्धम् प्रकाशात्मकत्वात् प्रदीपस्यापेक्षितोऽप्यनर्थकः स्यात्,

पूर्व०—तो फिर ब्रह्म अज्ञात हुआ ?

सिद्धान्ती—नही, क्योंकि उसे विज्ञान (ज्ञात होने) की अपेक्षा नहीं है। जो वस्तु अज्ञात होती है उसके विज्ञानकी अपेक्षा हुआ करती है। अज्ञात वस्तुको जाननेके लिये ही सम्पूर्ण लोकोकी प्रवृत्ति है, किन्तु ब्रह्मको अपने विज्ञानकी अपेक्षा नही है; क्यो ? क्योकि वह विज्ञानस्वरूप ही है। जिसका जो स्वरूप होता है वह उसीकी दूसरेसे अपेक्षा नही रखता और अपनेसे तो अपेक्षा हुआ ही नही करती, क्योकि अपना-आप तो सिद्ध (प्राप्त) होनेके कारण अपेक्षासे रहित ही है। दीपक अपने स्वरूपकी अभिव्यक्तिके लिये अपनेसे अथवा किसी अन्यसे प्रकाशान्तरकी अपेक्षा नही रखता। इस प्रकार जो अपेक्षा नही रखता वह स्वतः सिद्ध ही है। दीपक प्रकाशस्वरूप ही है; अतः अपने स्वरूपकी अभिव्यक्तिके लिये यदि वह प्रकाशान्तरकी अपेक्षा करे

पद-भाष्य

लक्षणाद्व्याकृतबीजात्, अधि इति उपर्यर्थे, लक्षणया अन्यद् इत्यर्थः। यद्धि यस्मादधि उपरि भवति, तत्तस्मादन्यदिति प्रसिद्धम्।

अव्याकृतसे भी 'अधि' है।"अधि' का अर्थ ऊपर होता है; परन्तु लक्षणासे इसका अर्थ 'अन्य' करना चाहिये, क्योंकि जो वस्तु जिससे अधि— ऊपर होती है वह उससे अन्य हुआ करती है—यह प्रसिद्ध ही है।

वाक्य-भाष्य

प्रकाशो विशेषाभावात्। न हि प्रदीपस्य स्वरूपाभिव्यक्तौ प्रदीप-प्रकाशोऽर्थवान्। न चैवमात्मनोऽन्यत्र विज्ञानमस्ति येन स्वरूपविज्ञानेऽप्यपेक्ष्येत।

तो व्यर्थ ही होगा, क्योंकि प्रकाशमे कोई विशेषता नही हुआ करती। एक दीपकके स्वरूपकी अभिव्यक्तिमे किसी अन्य दीपकका प्रकाश सार्थक नही होता। इसी प्रकार आत्मासे भिन्न ऐसा कोई विज्ञान नही है जो उसके स्वरूपका ज्ञान करानेके लिये अपेक्षित हो।

विरोध इति चेन्नान्यत्वात्।

यदि कहो कि इससे विरोध प्रतीत होता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि [आत्मा] इससे भिन्न है।

स्वरूपविज्ञाने विज्ञानस्वरूपत्वाद् विज्ञानान्तरं नापेक्षत इत्येतदसत्। दृश्यते हि विपरीतज्ञानमात्मनि सम्यग्ज्ञानं च। न जानाम्यात्मानमिति। श्रुतेश्च "तत्त्वमसि" (छा० उ० ६। ८–१६) "आत्मानमेवावेत्" (बृ० उ० १।४।१०)

पूर्व०—तुमने जो कहा कि आत्मा विज्ञानस्वरूप है, इसलिये उसके स्वरूपको जाननेमे किसी अन्य विज्ञान-की अपेक्षा नही है—सो ठीक नहीं, क्योंकि आत्मामे भी विपरीत ज्ञान और सम्यक् ज्ञान होता देखा ही जाता है; जैसा कि "मैं आत्माको नहीं जानता" इत्यादि कथनसे तथा "तू वह (ब्रह्म) है" "आत्माको ही जाना"

पद-भाष्य

ब्रह्मण आत्मभिन्नत्व-प्रतिपादनम्

यद्विदितं तदल्पं मर्त्यं दुःखात्मकं चेति हेयम्। तस्माद्विदितादन्यद्ब्रह्म इत्युक्ते त्वहेयत्वमुक्तं स्यात्। तथा अविदितादधि इत्युक्तेऽनुपादेयत्वमुक्तं स्यात्।

जो वस्तु विदित होती है वह अल्प, मरणशील एवं दुःखमयी होती है, इसलिये वह हेय (त्याज्य) है। ब्रह्म उस विदित वस्तुसे भिन्न है—ऐसा कहनेसे उसका अहेयत्व बतलाया गया। तथा 'वह अविदित-से भी ऊपर है' ऐसा कहनेपर उसका अनुपादेयत्व प्रतिपादन किया गया।

वाक्य-भाष्य

"एतं वै तमात्मानं विदित्वा" (बृ० उ० ३।५।१) इति च। सर्वत्र श्रुतिष्वात्मविज्ञाने विज्ञानान्तरापेक्षत्वं दृश्यते। तस्मात् प्रत्यक्षश्रुतिविरोध इति चेत्।

"उस इस आत्माको निश्चयपूर्वक जानकर" आदि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है। श्रुतियोंमें आत्माके ज्ञानके लिये सर्वत्र ही विज्ञानान्तरकी अपेक्षा देखी जाती है। इसलिये [उपर्युक्त कथनका] प्रत्यक्ष ही श्रुतिसे विरोध है।

न; कस्मात्? अन्यो हि स आत्मा बुद्ध्यादिकार्यकरणसङ्घाताभिमानसन्तानाविच्छेदलक्षणोऽविवेकात्मको बुद्ध्यवभासप्रधानः चक्षुरादिकरणो नित्यचित्स्वरूपात्मान्तःसारो यत्रानित्यं विज्ञानम् अवभासते। बौद्धप्रत्ययानाम् आविर्भावतिरोभावधर्मकत्वात्तद्धर्मतयैव विलक्षणमपि चावभासते।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं। क्यों? क्योंकि बुद्धि आदि कार्य और करणके सघातमें जो अभिमान है उसकी परम्पराका विच्छेद न होना ही जिसका लक्षण है, नित्य चित्स्वरूप आत्मा ही जिसका आन्तरिक सार है और जिसमें अनित्य विज्ञानका अवभास हुआ करता है वह अविवेकात्मक, चिदाभास-प्रधान तथा चक्षु आदि करणोंवाला आत्मा (जीवात्मा) [शुद्ध चेतनसे] भिन्न ही है। बौद्ध प्रतीतियोंका आविर्भाव-तिरोभाव उसका धर्म है; अतः अपने उस धर्मके कारण वह उससे पृथक् दिखलायी भी देता है।

पद-भाष्य

कार्यार्थं हि कारणमन्यदन्येन उपादीयते । अतश्च न वेदितुः अन्यस्मै प्रयोजनायान्यदुपादेयं भवतीति । एवं विदिताविदिताभ्यामन्यदिति हेयोपादेयप्रतिषेधेन स्वात्मनोऽनन्यत्वाद् ब्रह्मविषया जिज्ञासा शिष्यस्य

किसी कार्यके लिये ही किसी अन्य पुरुषद्वारा एक अन्य कारण यानी साधनको ग्रहण किया जाता है; अतः वेत्ता (आत्मा) को किसी अन्य प्रयोजनके लिये कोई अन्य साधन उपादेय नहीं है। इस प्रकार वह विदित और अविदित दोनोंसे भिन्न है—इस कथनद्वारा हेय और उपादेयका प्रतिषेध कर दिया जानेसे [ज्ञेय वस्तु] अपने आत्मासे अभिन्न सिद्ध होनेके कारण शिष्यकी ब्रह्मविषयक जिज्ञासा पूर्ण हो जाती

वाक्य-भाष्य

अन्तःकरणस्य मनसोऽपि मनोऽन्तर्गतत्वात्सर्वान्तरश्रुतेः । अन्तर्गतेन नित्यविज्ञानस्वरूपेण आकाशवदप्रचलितात्मनान्तर्गर्भभूतेन बाह्यो बुद्ध्यात्मा तद्विलक्षणः अर्चिर्भिरिवाग्निः प्रत्ययैराविर्भावतिरोभावधर्मकैर्विज्ञानाभासरूपैरनित्यविज्ञान आत्मा सुखी दुःखीत्यभ्युपगतो लौकिकैः । अतोऽन्यो नित्यविज्ञानस्वरूपादात्मनः । तत्र हि विज्ञानापेक्षा विपरीतज्ञानत्वं चोपपद्यते न पुनर्नित्यविज्ञाने ।

[किन्तु वह शुद्ध चेतन तो] 'आत्मा सर्वान्तर है' ऐसा बतलानेवाली श्रुतिके अनुसार अन्तःकरण यानी मनका भी मन है । उस अन्तर्गत, नित्यविज्ञानस्वरूप, आकाशके समान अविचल और अन्तर्गर्भभूत चिदात्मासे बाह्य और विलक्षण अनित्य विज्ञानवान् विज्ञानात्मा ही, आविर्भाव-तिरोभाव धर्मवाले विज्ञानाभासरूप अनित्य प्रत्ययोंके कारण लौकिक पुरुषोंद्वारा आत्मा सुखी-दुःखी है—ऐसा माना जाता है, जैसे ज्वालाओंके कारण अग्नि । अतः वह नित्यविज्ञानस्वरूप आत्मासे भिन्न है । उसीमें विज्ञानकी अपेक्षा तथा विपरीत ज्ञानत्वकी सम्भावना है—नित्यविज्ञानस्वरूप चिदात्मामें नहीं ।

पद-भाष्य

निर्वर्तिता स्यात् । न ह्यन्यस्य स्वात्मनो विदिताविदिताभ्याम् अन्यत्वं वस्तुनः सम्भवतीत्यात्मा ब्रह्मेत्येष वाक्यार्थः; "अयमात्मा ब्रह्म" (माण्डू० २) "य आत्मा-पहतपाप्मा," (छा० उ०८।७।१)

है, क्योंकि अपने आत्मासे भिन्न किसी और वस्तुका विदित और अविदित दोनोंसे भिन्न होना सम्भव नहीं है । अतः आत्मा ही ब्रह्म है—यह इस वाक्यका अर्थ है । यही बात "यह आत्मा ब्रह्म है" "जो आत्मा पापसे रहित है"

वाक्य-भाष्य

तत्त्वमसीति बोधोपदेशो न उपपद्यत इति चेत् । "आत्मानमेवावेत्" (बृ० उ० १।४।१०) इत्येवमादीनि च नित्यबोधात्मकत्वात् । न ह्यादित्योऽन्येन प्रकाश्यतेऽतस्तदर्थबोधोपदेशः अनर्थक इति चेत् ।

पूर्व०—[ऐसा माननेसे तो] "तत्त्वमसि" (वह ब्रह्म तू है) यह उपदेश भी नहीं बन सकता और न "अपने आत्माको ही जाना [कि मैं ब्रह्म हूँ]" इत्यादि वाक्य ही सार्थक हो सकते हैं—क्योंकि ब्रह्म तो नित्य-बोधस्वरूप है । सूर्य दूसरेसे प्रकाशित कभी नहीं हो सकता । इसलिये आत्माके विषयमें ज्ञानका उपदेश करना व्यर्थ ही होगा ।

न; लोकाध्यारोपापोहार्थत्वात् ।

बोधोपदेशस्य अध्यास-निरासार्थत्वम्

सर्वात्मनि हि नित्यविज्ञाने बुद्ध्याद्यनित्यधर्मा लोकैरध्यारोपिता आत्माविवेकतस्तदपोहार्थो बोधोपदेशो बोधात्मनः ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वह उपदेश लोगोंद्वारा किये हुए अध्यारोपकी निवृत्तिके लिये है । लोगोंने आत्मतत्त्वके अज्ञानवश उस नित्यविज्ञानस्वरूप सर्वात्मापर बुद्धि आदि अनित्य धर्मोंका आरोप किया हुआ है । उसकी निवृत्तिके लिये ही उस ज्ञानस्वरूपके ज्ञानका उपदेश किया जाता है ।

तत्र च बोधाबोधौ समञ्जसौ, अन्यनिमित्तत्वादुदक इवौष्ण्यम्

तथा उस बोधस्वरूपमें बोध और अबोध समीचीन भी है, क्योंकि जैसे अग्निके कारण जलमें उष्णता रहती है

पद-भाष्य

"यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म" (बृ० उ० ३।४।१) "य आत्मा सर्वान्तरः" (बृ० उ० ३।४।१) इत्यादिश्रुत्यन्तरेभ्यश्चेति।

"जो साक्षात् अपरोक्षरूपसे ब्रह्म ही है" "जो आत्मा सर्वान्तर है" इत्यादि अन्य श्रुतियोंसे भी प्रमाणित होती है।

वाक्य-भाष्य

अग्निनिमित्तम्, रात्र्यहनी इवादित्यनिमित्ते। लोके नित्यावौष्ण्यप्रकाशावग्न्यादित्ययोरन्यत्रभावाभावयोर्निमित्तत्वादनित्याविव उपचर्येते। धक्ष्यत्यग्निः प्रकाशयिष्यति सवितेति तद्वत्। एवं च सुखदुःखबन्धमोक्षाद्यध्यारोपो लोकस्य तदपेक्ष्य तत्त्वमस्यात्मानमेवावेदित्यात्मावबोधोपदेशेन श्रुतयः केवलमध्यारोपापोहार्थाः।

तथा सूर्यके कारण दिन और रात हुआ करते हैं, वैसे ही उनका कारण भी अन्य (आरोपित धर्म) ही है। उष्णता और प्रकाश—ये अग्नि और सूर्यके तो नित्य-धर्म हैं, किन्तु लोकमें अन्यत्र अपने भाव और अभावके कारण वे अनित्यवत् उपचरित होते हैं; जैसे—'अग्नि जला देगा', 'सूर्य प्रकाशित करेगा' इत्यादि वाक्योंमें, वैसे ही [आत्माके विषयमें समझना चाहिये]। इस प्रकार लोकका जो सुख-दुःख एवं बन्ध-मोक्षरूप अध्यारोप है उसकी अपेक्षासे ही 'तत्त्वमसि' 'आत्मानमेवावेत्' इत्यादि श्रुतियाँ आत्मज्ञानके उपदेशसे केवल अध्यारोपकी निवृत्तिके लिये ही हैं।

ब्रह्मणो विदिताविदिताभ्यामन्यत्वम्

यथा सवितासौ प्रकाशयति आत्मानम् इति तद्वत्, बोधाबोधकर्तृत्वं च नित्यबोधात्मनि। तस्मात् अन्यदविदितात्। अधिशब्दश्च अन्यार्थे। यद्वा यद्धि यस्याधि

जिस प्रकार 'यह सूर्य अपने-आपको प्रकाशित करता है' [इस वाक्यसे प्रकाशस्वरूप सूर्यमें प्रकाशकर्तृत्वका उल्लेख किया जाता है] उसी प्रकार नित्यबोधस्वरूप आत्मामें भी ज्ञान और अज्ञानका कर्तृत्व माना गया है। इसलिये वह अविदित (अज्ञात) से भी अन्य है। यहाँ 'अधि' शब्द 'अन्य' अर्थमें है। अथवा जो जिससे अधि

पद-भाष्य

एवं सर्वात्मनः सर्वविशेषरहितस्य चिन्मात्रज्योतिषो ब्रह्मत्वप्रतिपादकस्य वाक्यार्थस्य

इस प्रकार सर्वात्मा सर्वविशेषरहित चिन्मात्रज्योतिःस्वरूप वस्तुका ब्रह्मत्व प्रतिपादन करनेवाले वाक्यार्थ-

वाक्य-भाष्य

तत्ततोऽन्यत्सामर्थ्यात्। यथाधि भृत्यादीनां राजा। अव्यक्तमेव अविदितं ततोऽन्यदित्यर्थः।

(ऊपर) होता है वह उससे अन्य ही हुआ करता है, क्योंकि उस शब्दकी शक्तिसे यही बोध होता है; जिस प्रकार सेवक आदिसे ऊपर राजा।[1] अव्यक्त ही अविदित है, उससे यह आत्मा पृथक् है—यही इसका तात्पर्य है।

विदितमविदितं च व्यक्ताव्यक्ते कार्यकारणत्वेन विकल्पिते ताभ्यामन्यद्ब्रह्म विज्ञानस्वरूपं सर्वविशेषप्रत्यस्तमितम् इत्ययं समुदायार्थः। अत एवात्मत्वान्न हेय उपादेयो वा। अन्यद्ध्यन्येन हेयमुपादेयं वा। न तेनैव तद्यस्य कस्यचिद्धेयमुपादेयं वा भवति। आत्मा च ब्रह्म सर्वान्तरात्मत्वादविषयमतोऽन्यस्यापि न हेयमुपादेयं वा। अन्याभावाच्च।

विदित और अविदित यानी व्यक्त और अव्यक्त ही क्रमशः कार्य तथा कारणभावसे माने गये है उनसे भिन्न वह ब्रह्म है जो सम्पूर्ण विशेषणोंसे रहित विज्ञानस्वरूप है—यह इस समस्त वाक्यसमुदायका तात्पर्य है। अतः आत्मस्वरूप होनेके कारण वह त्याज्य या ग्राह्य भी नहीं है। अन्य वस्तु ही किसी अन्यकी त्याज्य या ग्राह्य हुआ करती है; स्वयं आप ही अपनी कोई भी वस्तु हेय या उपादेय नहीं होती। आत्मा ही ब्रह्म है और सबका अन्तर्यामी होनेसे वह किसी इन्द्रियका विषय भी नहीं है। इसलिये वह किसी अन्यका भी हेय या उपादेय नहीं है। इसके सिवा आत्मासे भिन्न कोई और वस्तु न होनेके कारण भी [वह हेयोपादेयरहित है]।

१. जिस प्रकार सेवकोंके ऊपर होनेके कारण राजा उनसे भिन्न है उसी प्रकार अविदितसे ऊपर होनेके कारण आत्मा उससे भिन्न है।

पद-भाष्य

आचार्योपदेशपरम्परया प्राप्तत्वमाह—इति शुश्रुमेत्यादि। ब्रह्म च एवमाचार्योपदेशपरम्परया एवाधिगन्तव्यं न तर्कतः प्रवचनमेधाबहुश्रुततपोयज्ञादिभ्यश्च,इति एवं शुश्रुम श्रुतवन्तो वयं पूर्वेषाम् आचार्याणां वचनम्; ये आचार्याः नः अस्मभ्यं तद् ब्रह्म व्याचचक्षिरे व्याख्यातवन्तः

का 'इति शुश्रुम पूर्वेषाम्' इत्यादि वाक्यद्वारा आचार्योंके उपदेशकी परम्परासे प्राप्त होना दिखलाया गया है। इस प्रकार वह ब्रह्म आचार्योंकी उपदेश-परम्परासे ही ज्ञातव्य है, तर्कसे अथवा प्रवचन, मेधा, बहुश्रुत, तप एवं यज्ञादिसे नहीं—ऐसा हमने पूर्ववर्ती आचार्योंका वचन सुना है। जिन आचार्योंने हमारे प्रति उस ब्रह्मका व्याख्यान—स्पष्ट कथन

वाक्य-भाष्य

यथोक्तस्य आप्तप्रामाणिकत्वम्

इति शुश्रुम पूर्वेषामित्यागमोपदेशः। व्याचचक्षिर इत्यस्वातन्त्र्यं तर्कप्रतिषेधार्थम्। ये नस्तद्ब्रह्मोक्तवन्तस्ते नित्यमेवागमं ब्रह्मप्रतिपादकं व्याख्यातवन्तो न पुनः स्वबुद्धिप्रभवेण तर्केण उक्तवन्त इत्यागमपारम्पर्याविच्छेदं दर्शयति विद्यास्तुतये। तर्कस्त्वनवस्थितो भ्रान्तोऽपि भवतीति ॥ ३ ॥

'इति शुश्रुम पूर्वेषाम्' (यह हमने पूर्व आचार्योंके मुँहसे सुना है) ऐसा कहकर यह दिखलाते हैं कि यह [परम्परागत] शास्त्रका उपदेश है। हमसे [शास्त्रीय मतका] व्याख्यान किया था [यह उनकी स्वतन्त्र कल्पना नहीं है] ऐसा कहकर जो उन आचार्योंकी अस्वतन्त्रता दिखलायी है वह तर्कका प्रतिषेध करनेके लिये है; जिन्होंने हमसे उस ब्रह्मका वर्णन किया था। अर्थात् उन्होंने ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाले नित्य आगमका ही व्याख्यान करके बतलाया था अपनी बुद्धिसे ही प्रकट हुए तर्कद्वारा नहीं कहा। इस प्रकार ज्ञानकी स्तुतिके लिये शास्त्रपरम्पराका अविच्छेद दिखलाया है, क्योंकि तर्क तो अनवस्थित और भ्रमपूर्ण भी होता है ॥ ३ ॥

पद-भाष्य

विस्पष्टं कथितवन्तः, तेषाम् इत्यर्थः ॥३॥

किया था, उन्हींके [वचनसे हमें उसे जानना चाहिये] यह इसका तात्पर्य है ॥ ३ ॥



'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' इत्यनेन वाक्येन आत्मा ब्रह्मेति प्रतिपादिते श्रोतुराशङ्का जाता—कथं न्वात्मा ब्रह्म । आत्मा हि नामाधिकृतः कर्मण्युपासने च संसारी कर्मोपासनं वा साधनमनुष्ठाय ब्रह्मादिदेवान्स्वर्गं वा प्राप्तुमिच्छति । तत्तस्मादन्य उपास्यो विष्णुरीश्वर इन्द्रः प्राणो वा ब्रह्म भवितुमर्हति, न त्वात्मा; लोकप्रत्ययविरोधात् । यथान्ये तार्किका ईश्वरादन्य आत्मा इत्याचक्षते, तथा कर्मिणोऽमुं यजामुं यजेत्यन्या एव देवता उपासते । तस्माद्युक्तं यद्विदितमुपास्यं तद्ब्रह्म भवेत्, ततोऽन्य उपासक इति । तामेतामाशङ्कां शिष्यलिङ्गेनोपलक्ष्य तद्वाक्याद्वा आह—मैवं शङ्किष्ठाः,

'वह विदितसे अन्य है और अविदितसे भी ऊपर है' इस वाक्यद्वारा आत्मा ही ब्रह्म है—ऐसा प्रतिपादन किये जानेपर श्रोताको यह शंका हुई—आत्मा किस प्रकार ब्रह्म है ? आत्मा तो कर्म और उपासनामें अधिकृत संसारी जीवको कहते हैं, जो कर्म या उपासनारूप साधनका अनुष्ठान कर ब्रह्मा आदि देवताओं अथवा स्वर्गको प्राप्त करना चाहता है । अतः उससे भिन्न उसका उपास्य विष्णु, ईश्वर, इन्द्र अथवा प्राण ही ब्रह्म होना चाहिये—आत्मा नहीं, क्योंकि यह बात लोक-विश्वासके विरुद्ध है । जिस प्रकार अन्य तार्किक लोग आत्माको ईश्वरसे भिन्न बतलाते हैं उसी प्रकार कर्मकाण्डी भी 'इसका यजन करो—इसका यजन करो' इस प्रकार अन्य देवताकी ही उपासना करते हैं । अतः उचित यही है कि जो उपास्य विदित है वह ब्रह्म हो और उससे भिन्न उसका उपासक हो । शिष्यके व्याज अथवा उसके वाक्यसे उसकी इस आशंकाको उपलक्षित कर कहते हैं—ऐसी शंका मत करो,

ब्रह्म वागादिसे अतीत और अनुपास्य है

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ४ ॥

जो वाणीसे प्रकाशित नहीं है, किन्तु जिससे वाणी प्रकाशित होती है उसीको तू ब्रह्म जान, जिस इस [देशकालावच्छिन्न वस्तु] की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है ॥ ४ ॥

पद-भाष्य

यत् चैतन्यमात्रसत्ताकम्, वाचा वागिति जिह्वामूलादिष्वष्टसु स्थानेषु विषक्तमाग्नेयं वर्णानाम् अभिव्यञ्जकं करणम्, वर्णाश्चार्थसङ्केतपरिच्छिन्ना एतावन्त एवं क्रमप्रयुक्ता इति; एवं तद-

जो चैतन्यसत्तास्वरूप ब्रह्म वाणीसे [अप्रकाशित है]—जिह्वामूल आदि आठ स्थानोंमें* आश्रित तथा अग्निदेवतासे अधिष्ठित वर्णोंको अभिव्यक्त करनेवाली इन्द्रिय एवं अर्थ-संकेतसे परिच्छिन्न और इतने तथा इस क्रमसे† प्रयुक्त होनेवाले है, ऐसे

वाक्य-भाष्य

यद्वाचा इति मन्त्रानुवादो दृढप्रतीतेः । अन्यदेव तद्विदितादिति योऽयमागमार्थो ब्राह्मणोक्तोऽस्यैव द्रढिम्ने मन्त्रा यद्वाचेत्यादयः पठ्यन्ते ।

'यद्वाचा' इत्यादि मन्त्रोंका उल्लेख आत्मतत्त्वकी दृढप्रतीतिके लिये किया गया है । 'वह विदितसे भिन्न है' ऐसा जो शास्त्रका तात्पर्य इस ब्राह्मण-ग्रन्थने ऊपर कहा है उसकी पुष्टिके लिये ही ये 'यद्वाचा' इत्यादि मन्त्र पढ़े जाते हैं।

---

* जिह्वामूल, हृदय, कण्ठ, मूर्धा, दन्त, नासिका, ओष्ठ और तालु ।

† यह मीमांसकोंका मत है, जैसे 'गौः' यह पद गकार, औकार तथा विसर्ग— इस क्रमविशेषसे अवच्छिन्न वर्णरूप ही है ।

पद-भाष्य

भिव्यङ्ग्यः शब्दः पदं वागिति उच्यते; "अकारो वै सर्वा वाक्सैषा स्पर्शान्तस्थोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति" (ऐ० आ० २।३।७।१३) इति श्रुतेः। मितममितं स्वरः सत्यानृते एष विकारो यस्यास्तया

नियमवाले वर्ण 'वाक्' कहे जाते हैं। तथा उनसे अभिव्यक्त होनेवाला शब्द भी 'पद' या 'वाक्' कहा जाता है। श्रुति कहती है—"अकार* ही सम्पूर्ण वाक् है, और यह वाक् ही अपने स्पर्श[1] अन्तस्थ[2] और ऊष्म[3] आदि भेदोसे अभिव्यक्त होकर अनेक रूपवाली हो जाती है।" इस प्रकार मित[4] अमित[5] स्वर[6] एवं सत्य और मिथ्या—ये जिसके विकार

वाक्य-भाष्य

यद्ब्रह्म वाचा शब्देनानभ्युदितम् अनभ्युक्तमप्रकाशितमित्येतत्, येन वागभ्युद्यत इति वाक्प्रकाश-हेतुत्वोक्तिः। येन प्रकाश्यत इति वाचोऽभिधानस्याभिधेयप्रकाश-कत्वस्य हेतुत्वमुच्यते ब्रह्मणः।

जो ब्रह्म वाणीसे अर्थात् शब्दसे अनभ्युदित—अनुक्त अर्थात् अप्रकाशित है। और जिससे वाणी अभ्युदित होती है—ऐसा कहकर उसे वाणीके प्रकाश-का हेतु बतलाया है। 'जिससे वाणी प्रकाशित होती है' ऐसा कहकर वाणीके अभिधान (उच्चारण) के अभिधेय (वाच्य) को प्रकाशित करनेमे ब्रह्मको हेतु बतलाया है [अर्थात् यह दिखलाया है कि वाणीमे जो अर्थको अभिव्यञ्जित करनेका सामर्थ्य है वह ब्रह्मका ही है]।

---

* अकार प्रधान ॐकारसे उपलक्षित स्फोट नामक चिच्छक्ति।

१. क से म तक सभी वर्ण। २. य र ल व। ३. श ष स ह। ४. जिनके पादका अन्त नियत अक्षरोंवाला है उन वाक्योंको मित (ऋग्वेद) कहते हैं। ५. जिनके पादका अन्त नियत अक्षरोंवाला नहीं है उन वाक्योंको अमित (यजुर्वेद) कहते हैं। ६. गायन-प्रधान सामवेद 'स्वर' कहलाता है।

पद-भाष्य

वाचा पदत्वेन परिच्छिन्नया करणगुणवत्या—अनभ्युदितम् अप्रकाशितमनभ्युक्तम् ।

येन ब्रह्मणा विवक्षितेऽर्थे सकरणा वाक् अभ्युद्यते चैतन्यज्योतिषा प्रकाश्यते प्रयुज्यत इत्येतद्यद्वाचो ह वागित्युक्तम्, "वदन्वाक्" (बृ० उ० १।४।७) "यो वाचमन्तरो यमयति" (बृ० उ० ३।७।१७) इत्यादि च वाजसनेयके। "या वाक् पुरुषेषु सा घोषेषु प्रतिष्ठिता

है उस पदरूपसे परिच्छिन्न एवं वागिन्द्रियरूप गुणवाली वाणीसे जो अनभ्युदित—अप्रकाशित अर्थात् नहीं कहा गया है—

बल्कि जिस ब्रह्मके द्वारा वागिन्द्रियसहित वाणी विवक्षित अर्थमें बोली जाती अर्थात् अपने चैतन्य-ज्योतिःस्वरूपसे प्रकाशित यानी प्रयुक्त की जाती है, जो 'वाणीकी वाणी है' इस प्रकार बतलाया गया है [जिसके विषयमें] बृहदारण्यकोपनिषद्में "बोलनेके कारण वाणी है" "जो भीतरसे वाणीका नियमन करता है" इत्यादि कहा है, तथा "चेतन प्राणियोंमें जो वाणी (वाक्शक्ति) है वह घोषों (वर्णों) में

वाक्य-भाष्य

उक्तं च केनेषितां वाचमिमां वदन्ति यद्वाचो ह वाचमिति। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धीत्यविषयत्वेन ब्रह्मण आत्मन्यवस्थापनार्थ आम्नायः। यद्वाचानभ्युदितं वाक्प्रकाशनिमित्तं चेति ब्रह्मणोऽविषयत्वेन वस्त्वन्तरजिघृक्षां

ऊपर 'लोग किसकी प्रेरणासे इस वाणीको बोलते हैं' इस प्रश्नके उत्तरमें 'जो वाणीका वाणी है' इत्यादि कहा भी जा चुका है। 'तू उसीको ब्रह्म जान' यह आगम ब्रह्मको अविषयरूपसे बुद्धिमें बिठानेके लिये है। 'जो वाणीसे प्रकट नहीं होता बल्कि वाणीके प्रकाशित होनेका हेतु है' इस कथनसे ब्रह्मका अविषयत्व सिद्ध करता हुआ शास्त्र पुरुषको अन्य वस्तुके ग्रहण करनेकी इच्छासे

पद-भाष्य

कश्चित्तां वेद ब्राह्मणः" इति प्रश्नमुत्पाद्य प्रतिवचनमुक्तम् "सा वाग्यया स्वप्ने भाषते" इति। सा हि वक्तुर्वक्तिर्नित्या वाक् चैतन्यज्योतिःस्वरूपा, "न हि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यते" (बृ० उ० ४ । ३ । २६) इति श्रुतेः ।

स्थित है, उसे कोई ब्रह्मवेत्ता ही जानता है" इस प्रकार प्रश्न उठाकर यह उत्तर दिया है कि "जिसके द्वारा जीव स्वप्नमें बोलता है वह वाक् है" वक्ताकी वह नित्य वाचनशक्तिही चैतन्य-ज्योतिःस्वरूप वाक् है जैसा कि "वक्ताकी वाचनशक्तिका लोप कभी नहीं होता" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है ।

तदेव आत्मस्वरूपं ब्रह्म निरतिशयं भूमाख्यं बृहत्त्वाद् ब्रह्मेति विद्धि विजानीहि त्वम् । यैर्वागाद्युपाधिभिर्वाचो ह वाक् चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः कर्ता भोक्ता विज्ञाता नियन्ता प्रशासिता विज्ञानमानन्दं ब्रह्म इत्येवमादयः संव्यवहारा असंव्यवहारे निर्विशेषे परे साम्ये ब्रह्मणि प्रवर्तन्ते,

उस आत्मस्वरूपको ही तू बृहत् होनेके कारण 'ब्रह्म' यानी भूमासंज्ञक सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म जान । जिन वाक् आदि उपाधियोंके कारण, वाणीका वाणी, चक्षुका चक्षु, श्रोत्रका श्रोत्र, मनका मन, कर्ता, भोक्ता, विज्ञाता, नियन्ता, शासनकर्ता, तथा ब्रह्म विज्ञान और आनन्दस्वरूप है—इत्यादि प्रकारके व्यवहार उस अव्यवहार्य निर्विशेष सर्वोत्कृष्ट समस्वरूप ब्रह्ममें प्रवृत्त होते हैं,

वाक्य-भाष्य

निवर्त्य स्वात्मन्येवावस्थापयति आम्नायस्तदेव ब्रह्म त्वं विद्धीति यत्नत उपरमयति । नेदमित्युपास्यप्रतिषेधाच्च ॥ ४ ॥

निवृत्त करके अपने आत्मस्वरूपमें ही जोड़ता है और 'उसीको तू ब्रह्म जान' इस वाक्यद्वारा वह उसे अन्य प्रयत्नसे उपरत करता है तथा 'नेदं यदिदमुपासते' इस कथनसे भी ब्रह्मका उपास्यत्व निषेध करनेके कारण [वह अन्य सब ओरसे उसे निवृत्त करता है] ॥ ४ ॥

पद-भाष्य

तान्व्युदस्य आत्मानमेव निर्विशेषं ब्रह्म विद्धीति एवशब्दार्थः। नेदं ब्रह्म यदिदम् इत्युपाधिभेदविशिष्टमनात्मेश्वरादि उपासते ध्यायन्ति। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि इत्युक्तेऽपि नेदं ब्रह्म इत्यनात्मनोऽब्रह्मत्वं पुनरुच्यते नियमार्थम् अन्यब्रह्मबुद्धिपरिसंख्यानार्थं वा ॥४॥

उन सब उपाधियोंका बाधकर अपने निर्विशेष आत्माको ही ब्रह्म जान—यही 'एव' शब्दका अर्थ है। जिस इस उपाधिविशिष्ट अनात्मा ईश्वरादिकी उपासना—ध्यान करते हैं वह ब्रह्म नहीं है। 'उसीको तू ब्रह्म जान' इतना कह देनेपर भी [अनात्मवस्तुमें ब्रह्मभावनाका निषेध हो ही जाता] पुनः 'यह ब्रह्म नहीं है' इस वाक्यके द्वारा जो अनात्माका अब्रह्मत्व प्रतिपादन किया है वह आत्मामें ही ब्रह्मबुद्धिका नियमन करनेके लिये अथवा अन्य उपास्य देवताओंमें ब्रह्म-बुद्धिकी निवृत्ति करनेके लिये है ॥४॥



यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ५ ॥

जो मनसे मनन नहीं किया जाता, बल्कि जिससे मन मनन किया हुआ कहा जाता है उसीको तू ब्रह्म जान। जिस इस [देश-कालावच्छिन्न वस्तु] की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है ॥ ५ ॥

पद-भाष्य

यन्मनसा न मनुते; मन इत्यन्तःकरणं बुद्धिमनसोरेकत्वेन गृह्यते। मनुतेऽनेनेति मनः सर्वकरणसाधारणम्, सर्वविषयव्यापकत्वात्। "कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव" (बृ० उ० १। ५। ३) इति श्रुतेः कामादिवृत्तिमन्मनः। तेन मनसा यत् चैतन्यज्योतिर्मनसः अवभासकं न मनुते न सङ्कल्पयति नापि निश्चिनोति लोकः, मनसोऽवभासकत्वेन नियन्तृत्वात्। सर्वविषयं प्रति प्रत्यगेवेति स्वात्मनि न प्रवर्ततेऽन्तःकरणम्। अन्तःस्थेन हि चैतन्यज्योतिषावभासितस्य मनसो मननसामर्थ्यम्; तेन सवृत्तिकं

जिसका मनके द्वारा मनन नहीं किया जाता; मन और बुद्धिके एकत्वरूपसे यहाँ मन शब्दसे अन्तःकरणका ग्रहण किया जाता है। जिसके द्वारा मनन करते हैं उसे मन कहते हैं; वह समस्त इन्द्रियोंके विषयोंमें व्यापक होनेके कारण सम्पूर्ण इन्द्रियोंके लिये समान है। "काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, बुद्धि और भय—ये सब मन ही हैं" इस श्रुतिके अनुसार मन कामादि वृत्तियोंवाला है। उस मनके द्वारा यह लोक जिस मनके प्रकाशक चैतन्यज्योतिका मनन—संकल्प अथवा निश्चय नहीं कर सकता, क्योंकि मनका प्रकाशक होनेके कारण वह तो उसका नियामक है। आत्मा सब विषयोंके प्रति प्रत्यक्‌रूप (आन्तरिक) ही है; अतः उसमें मन प्रवृत्त नहीं हो सकता। अपने भीतर स्थित चैतन्यज्योतिसे प्रकाशित हुए मनमें ही मनन करनेका सामर्थ्य है। उसके द्वारा वृत्तियुक्त हुए

वाक्य-भाष्य

यन्मनसा इत्यादि समानम्। मनो मतमिति येन ब्रह्मणा मनोऽपि विषयीकृतं नित्यविज्ञानस्वरूपेण

'यन्मनसा' इत्यादि श्रुतियोंका तात्पर्य समान ही है। 'मन मनन किया जाता है' अर्थात् जिस नित्य विज्ञानस्वरूप ब्रह्मद्वारा मन भी विषय

पद-भाष्य

मनो येन ब्रह्मणा मतं विषयीकृतं व्याप्तम् आहुः कथयन्ति ब्रह्मविदः। तस्मात् तदेव मनस आत्मानं प्रत्यक्चेतयितारं ब्रह्म विद्धि। नेदमित्यादि पूर्ववत् ॥५॥

मनको ब्रह्मवेत्तालोग जिस ब्रह्मके द्वारा मत—विषयीकृत अर्थात् व्याप्त बतलाते है;उस मनके प्रत्यक्चेतयिता आत्माको ही तू ब्रह्म जान। 'नेदं····' इत्यादि वाक्यकी व्याख्या पूर्ववत् समझनी चाहिये ॥ ५ ॥

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूꣳषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ६ ॥

जिसे कोई नेत्रसे नही देखता बल्कि जिसकी सहायतासे नेत्र [अपने विषयोंको] देखते है उसीको तू ब्रह्म जान। जिस इस [देशकालावच्छिन्न वस्तु] की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है ॥६॥

पद-भाष्य

यत् चक्षुषा न पश्यति न विषयीकरोति अन्तःकरणवृत्तिसंयुक्तेन लोकः, येन चक्षूंषि अन्तःकरणवृत्तिभेदभिन्नाश्चक्षुर्वृत्तीः पश्यति चैतन्यात्मज्योतिषा विषयीकरोति व्याप्नोति। तदेवेत्यादि पूर्ववत् ॥६॥

लोक जिसे अन्तःकरणकी वृत्तिसे युक्त नेत्रद्वारा नही देखता अर्थात् विषय नहीं करता किन्तु जिस चैतन्यआत्मज्योतिके द्वारा चक्षुओ अर्थात् अन्तःकरणकी वृत्तियोके भेदसे विभिन्न हुई—नेत्रेन्द्रियकी वृत्तियोको देखता—विषय करता यानी व्याप्त करता है उसीको तू ब्रह्म जान इत्यादि पूर्ववत् समझना चाहिये ॥६॥

वाक्य-भाष्य

इत्येतत्। सर्वकरणानामविषयम्, तानि च सव्यापाराणि सविषयाणि नित्यविज्ञानस्वरूपावभासतया

किया जाता है। जो सब इन्द्रियोका अविषय है और नित्य विज्ञानस्वरूपसे अवभासित होनेके कारण जिससे वे

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदꣳ श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ७ ॥

जिसे कोई कानसे नहीं सुनता बल्कि जिससे यह श्रोत्रेन्द्रिय सुनी जाती है उसीको तू ब्रह्म जान । जिस इस [देशकालावच्छिन्न वस्तु] की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है ॥ ७ ॥

वाक्य-भाष्य

यत् श्रोत्रेण न शृणोति दिग्देवताधिष्ठितेन आकाशकार्येण मनोवृत्तिसंयुक्तेन न विषयीकरोति लोकः, येन श्रोत्रम् इदं श्रुतं यत्प्रसिद्धं चैतन्यात्मज्योतिषा विषयीकृतं तदेव इत्यादि पूर्ववत् ॥७॥

लोक जिसे मनोवृत्तिसे युक्त आकाशके कार्यभूत तथा दिशारूप देवतासे अधिष्ठित श्रोत्रेन्द्रियद्वारा नहीं सुन सकता अर्थात् जिसे श्रोत्रसे विषय नहीं कर सकता, बल्कि जिस चैतन्यआत्मज्योतिद्वारा यह प्रसिद्ध श्रोत्र सुना यानी विषय किया जाता है वही [ब्रह्म है] इत्यादि पूर्ववत् समझना चाहिये ॥७॥

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ८ ॥

जो नासिकारन्ध्रस्थ प्राणके द्वारा विषय नहीं किया जाता बल्कि जिससे प्राण अपने विषयोंकी ओर जाता है उसीको तू ब्रह्म जान । जिस इस [देशकालावच्छिन्न वस्तु] की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है ॥ ८ ॥

वाक्य-भाष्य

येनावभास्यन्त इति श्लोकार्थः । "क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति" (गीता १३ । ३३)

सभी इन्द्रियाँ अपने व्यापार और विषयोंके सहित अवभासित होती हैं— यह इन मन्त्रोंका तात्पर्य है । "तथा क्षेत्रज्ञ सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता

पद-भाष्य

यत् प्राणेन प्राणेन पार्थिवेन नासिकापुटान्तरवस्थितेनान्तःकरणप्राणवृत्तिभ्यां सहितेन यन्न प्राणिति गन्धवन्न विषयीकरोति, येन चैतन्यात्मज्योतिषावभास्यत्वेन स्वविषयं प्रति प्राणः प्रणीयते तदेवेत्यादि सर्वं समानम् ॥८॥

अन्तःकरणकी और प्राणकी वृत्तियोके सहित नासिकारन्ध्रमे स्थित एवं पृथिवीके कार्यभूत प्राण यानी घ्राणके द्वारा जो प्राणन अर्थात् गन्धयुक्त वस्तुओको विषय नही करता, बल्कि जिस चैतन्यआत्मज्योतिसे प्रकाश्यरूपसे प्राण अपने विषयकी ओर प्रवृत्त किया जाता है वही ब्रह्म है इत्यादि शेष सब अर्थ पहलेहीके समान है ॥ ८ ॥



इति प्रथमः खण्डः ॥१॥



वाक्य-भाष्य

इति स्मृतेः। "तस्य भासा" (मु० उ० २।२।१०) इति चाथर्वणे। येन प्राण इति क्रियाशक्तिरप्यात्मविज्ञाननिमित्तेत्येतत् ॥५॥६॥ ॥७॥ ॥८॥

है" इस स्मृतिसे और "उसीके तेजसे [यह सब प्रकाशित है]" इस आथर्वणी श्रुतिसे भी यही प्रमाणित होता है। 'येन प्राणः' इस श्रुतिका यह तात्पर्य है कि क्रियाशक्ति भी आत्मविज्ञानके कारण ही प्रवृत्त होती है ॥ ५-८ ॥



इति प्रथमः खण्डः ॥ १ ॥



द्वितीय खण्ड

ब्रह्मज्ञानकी अनिर्वचनीयता

पद-भाष्य

एवं हेयोपादेयविपरीतस्त्वमात्मा ब्रह्मेति प्रत्यायितः शिष्यः अहमेव ब्रह्मेति सुष्ठु वेदाहमिति मा गृह्णीयादित्याशयादाहाचार्यः शिष्यबुद्धिविचालनार्थम्—यदीत्यादि ।

इस प्रकार हेयोपादेयसे विपरीत तू आत्मा ही ब्रह्म है—ऐसी प्रतीति कराया हुआ शिष्य यह न समझ बैठे कि 'ब्रह्म मैं ही हूँ, ऐसा मैं उसे अच्छी तरह जानता हूँ' इस अभिप्रायसे उसकी बुद्धिको [इस निश्चयसे] विचलित करनेके लिये आचार्यने 'यदि मन्यसे' इत्यादि कहा।

नन्विष्टैव सु वेदाहम् इति निश्चिता प्रतिपत्तिः ।

पूर्व०—मैं उसे अच्छी तरह जानता हूँ—ऐसा निश्चित ज्ञान तो इष्ट ही है ।

ब्रह्मणोऽवेद्यत्वे हेतु.

सत्यम्, इष्टा निश्चिता प्रतिपत्तिः; न हि सु वेदाहमिति । यद्धि वेद्यं वस्तु विषयीभवति, तत्सुष्ठु वेदितुं शक्यम्, दाह्यमिव दग्धुम् अग्नेर्दग्धुः न त्वग्नेः स्वरूपमेव । सर्वस्य हि वेदितुः स्वात्मा ब्रह्मेति सर्ववेदान्तानां सुनिश्चितोऽर्थः । इह च तदेव प्रतिपादितं प्रश्न-

सिद्धान्ती—ठीक है, निश्चित ज्ञान तो अवश्य इष्ट ही है, परन्तु 'मैं उसे अच्छी तरह जानता हूँ' ऐसा कथन इष्ट नहीं है । जो वेद्य वस्तु वेत्ताकी विषय होती है वही अच्छी तरह जानी जा सकती है; जिस प्रकार दहन करनेवाले अग्निके दाहका विषय दाह्य पदार्थ ही हो सकता है उसका स्वरूप नहीं हो सकता। 'ब्रह्म सभी ज्ञाताओंका आत्मा (अपना-आप) ही है' यह समस्त वेदान्तोंका भलीभाँति निश्चय किया हुआ अर्थ है । यहाँ भी

पद-भाष्य

प्रतिवचनोक्त्या 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्याद्यया। 'यद्वाचानभ्युदितम्' इति च विशेषतोऽवधारितम्। ब्रह्मवित्सम्प्रदायनिश्चयश्चोक्तः 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' इति। उपन्यस्तमुपसंहरिष्यति च 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' इति। तस्माद्युक्तमेव शिष्यस्य सु वेदेति बुद्धिं निराकर्तुम्।

'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' इत्यादि प्रश्नोत्तरोंद्वारा उसीका प्रतिपादन किया गया है। उसीको 'यद्वाचानभ्युदितम्' इस वाक्यद्वारा विशेषरूपसे निश्चय किया है। 'वह विदितसे अन्य है और अविदितसे भी ऊपर है' इस वाक्यद्वारा ब्रह्मवेत्ताओंके सम्प्रदायका निश्चय भी बतलाया गया है; तथा इस प्रकार उल्लेख किये हुए प्रकरणका 'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' इस वाक्यद्वारा उपसंहार करेंगे। अतः 'मैं अच्छी तरह जानता हूँ' ऐसी शिष्यकी बुद्धिका निराकरण करना उचित ही है।

न हि वेदिता वेदितुर्वेदितुं शक्यः अग्निर्दग्धुरिव दग्धुमग्नेः।

जिस प्रकार जलानेवाले अग्निद्वारा स्वयं अग्नि नहीं जलाया जा सकता उसी प्रकार जाननेवालेके

वाक्य-भाष्य

यदि मन्यसे सुवेद इति शिष्यबुद्धिविचालना गृहीतस्थिरतायै। विदिताविदिताभ्यां निवर्त्य बुद्धिं शिष्यस्य स्वात्मन्यवस्थाप्य तदेव ब्रह्म त्वं विद्धीति स्वाराज्येऽभिषिच्य उपास्यप्रतिषेधेनाथास्य बुद्धिं विचालयति।

'यदि मन्यसे सुवेद' इत्यादि वाक्यसे जो शिष्यकी बुद्धिको विचलित करना है वह उसके ग्रहण किये हुए अर्थको स्थिर करनेके लिये ही है। शिष्यकी बुद्धिको ज्ञात और अज्ञात वस्तुओंसे हटाकर 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि' (उसीको तू ब्रह्म जान) इस कथनसे अपने आत्मस्वरूपमें स्थिर कर तथा उपास्यके प्रतिषेधद्वारा उसे स्वाराज्यपर अभिषिक्त कर अब उसकी बुद्धिको विचलित करते हैं।

पद-भाष्य

न चान्यो वेदिता ब्रह्मणोऽस्ति यस्य वेद्यमन्यत्स्याद्ब्रह्म। "नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ" (बृ० उ० ३।८।११) इत्यन्यो विज्ञाता प्रतिषिध्यते। तस्मात् सुष्ठु वेदाहं ब्रह्मेति प्रतिपत्तिर्मिथ्यैव। तस्माद् युक्तमेवाहाचार्यो यदीत्यादि।

द्वारा स्वयं जाननेवाला नहीं जाना जा सकता। ब्रह्मका जाननेवाला कोई और है भी नहीं जिसका वह उससे भिन्न ब्रह्म ज्ञेय हो सके। "इससे भिन्न और कोई ज्ञाता नहीं है" इस श्रुतिद्वारा भी ब्रह्मसे भिन्न ज्ञाताका प्रतिषेध किया गया है। अतः 'मै ब्रह्मको अच्छी तरह जानता हूँ' यह समझना मिथ्या ही है। इसलिये गुरुने 'यदि मन्यसे' इत्यादि ठीक ही कहा है।

यदि मन्यसे सुवेदेति दहरमेवापि[1] नूनम्। त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपं यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ नु मीमाꣳस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥ १ ॥

यदि तू ऐसा मानता है कि 'मै अच्छी तरह जानता हूँ, तो निश्चय ही तू ब्रह्मका थोडा-सा ही रूप जानता है। इसका जो रूप तू जानता है और इसका जो रूप देवताओंमे विदित है [वह भी अल्प ही है] अतः तेरे लिये ब्रह्म विचारणीय ही है। [तब शिष्यने एकान्त देशमे विचार करनेके अनन्तर कहा—] 'मै ब्रह्मको जान गया—ऐसा समझता हूँ' ॥ १ ॥

पद-भाष्य

यदि कदाचित् मन्यसे सुवेदेति सुष्ठु वेदाहं ब्रह्मेति।

यदि कदाचित् तू ऐसा मानता हो कि मै ब्रह्मको अच्छी तरह

वाक्य-भाष्य

यदि मन्यसे सुवेद अहं ब्रह्मेति त्वं ततोऽल्पमेव ब्रह्मणो

यदि तू यह मानता है कि मै ब्रह्मको अच्छी तरह जानता हूँ तो तू निश्चय

१ 'दभ्रमेव' ऐसा भी पाठ है।

पद-भाष्य

कदाचिद्यथाश्रुतं दुर्विज्ञेयमपि क्षीणदोषः सुमेधाः कश्चित्प्रतिपद्यते कश्चिन्नेति साशङ्कमाह यदीत्यादि । दृष्टं च "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म" (छा० उ० ८ । ७ । ४) इत्युक्ते प्राजापत्यः पण्डितोऽप्यसुरराड् विरोचनः स्वभावदोषवशादनुपपद्यमानमपि विपरीतमर्थं शरीरमात्मेति प्रतिपन्नः । तथेन्द्रो देवराट् सकृद्द्विस्त्रिरुक्तं चाप्रतिपद्यमानः स्वभावदोषक्षयमपेक्ष्य

जानता हूँ । जिसके दोष क्षीण हो गये है ऐसा कोई बुद्धिमान् पुरुष कभी सुने हुएके अनुसार दुर्विज्ञेय विषयको भी समझ लेता है और कोई नहीं भी समझता—इस आशयसे ही [गुरुने] 'यदि मन्यसे' इत्यादि शंकायुक्त वाक्य कहा है । ऐसा देखा भी गया है कि "यह जो नेत्रोंके भीतर पुरुष दिखायी देता है यही आत्मा है, यही अमृत है, यही अभयपद है और यही ब्रह्म है—ऐसा [ब्रह्माने] कहा" इस प्रकार ब्रह्माजीके कहनेपर प्रजापतिकी सन्तान और पण्डित होनेपर भी असुरराज विरोचनने अपने स्वभावके दोषसे, किसी प्रकार सिद्ध न होनेपर भी शरीर ही आत्मा है, ऐसा विपरीत अर्थ समझ लिया । तथा देवराज इन्द्रने भी एक, दो तथा तीन बार कहनेपर भी इसका भाव न समझकर अपने स्वभावका दोष क्षीण हो जानेके

वाक्य-भाष्य

रूपं वेत्थ त्वमिति नूनं निश्चितं मन्यत इत्याचार्यः । सा पुनर्विचालना किमर्थेत्युच्यते-पूर्वगृहीतवस्तुनि बुद्धेः स्थिरतायै ।

ही ब्रह्मके रूपको बहुत कम जानता है—ऐसा आचार्य समझते हैं । परन्तु आचार्य जो शिष्यकी बुद्धिको विचलित करते हैं वह किसलिये है—इसपर कहते हैं कि [उनका यह कार्य] शिष्यद्वारा पहले ग्रहण किये हुए अर्थमें बुद्धिकी स्थिरताके लिये है । [इसी

पद-भाष्य

चतुर्थे पर्याये प्रथमोक्तमेव ब्रह्म प्रतिपन्नवान् । लोकेऽपि एकस्माद् गुरोः शृण्वतां कश्चिद्यथावत्प्रतिपद्यते कश्चिदयथावत् कश्चिद्विपरीतं कश्चिन्न प्रतिपद्यते । किमु वक्तव्यमतीन्द्रियमात्मतत्त्वम् ? अत्र हि विप्रतिपन्नाः सदसद्वादिनस्तार्किकाः सर्वे । तस्माद्विदितं ब्रह्मेति सुनिश्चितोक्तमपि विषमप्रतिपत्तित्वाद् यदि मन्यसे इत्यादि साशङ्कं वचनं युक्तमेव आचार्यस्य । दहरम् अल्पमेवापि नूनं त्वं वेत्थ जानीषे ब्रह्मणो रूपम् ।

अनन्तर चौथी बार कहनेपर पहली ही बार कहे हुए ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त किया । लोकमे भी एक ही गुरुसे श्रवण करनेवालोमे कोई तो ठीक-ठीक समझ लेता है, कोई ठीक नहीं समझता है, कोई उलटा समझ बैठता है और कोई समझता ही नही । फिर यदि अतीन्द्रिय आत्मतत्त्वको न समझ सकें तो इसमे कहना ही क्या है ? इसके सम्बन्धमे तो समस्त सद्वादी और असद्वादी तार्किक भी उलटा ही समझे हुए है । अतः 'ब्रह्मको जान लिया' यह कथन सुनिश्चित होनेपर भी विषम प्रतिपत्ति (ज्ञान) होनेके कारण आचार्यका 'यदि मन्यसे सुवेद' इत्यादि शंकायुक्त कथन उचित ही है । [अतः आचार्य कहते है यदि तू 'ब्रह्मको मैने जान लिया है' ऐसा मानता है तो] निश्चय ही तू ब्रह्मके अल्प रूपको ही जानता है ।

वाक्य-भाष्य

देवेष्वपि सुवेदाहमिति मन्यते यः सोऽप्यस्य ब्रह्मणो रूपं दहरमेव वेत्ति नूनम् । कस्मात् ? अविषयत्वात्कस्यचिद्ब्रह्मणः ।

उद्देश्यको लेकर आचार्य कहते है—] देवताओमे भी जो कोई यह मानता है कि मै ब्रह्मको अच्छी तरह जानता हूँ वह भी निश्चय ही उस ब्रह्मके रूपको बहुत कम जानता है । क्यो ? क्योकि ब्रह्म किसीका भी विषय नही है ।

पद-भाष्य

किमनेकानि ब्रह्मणो रूपाणि महान्त्यर्भकाणि च, येनाह दहरमेवेत्यादि ?

बाढम्; अनेकानि हि नामरूपोपाधिकृतानि ब्रह्मणो रूपाणि, न स्वतः । स्वतस्तु "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्" (क० उ० १ । ३ । १५, नृसिंहोत्तर० ९, मुक्तिक० २ । ७२) इति शब्दादिभिः सह रूपाणि प्रतिषिध्यन्ते ।

ब्रह्मण औपाधिकभेद-निरूपणम्

ननु येनैव धर्मेण यद्रूप्यते तदेव तस्य स्वरूपमिति ब्रह्मणोऽपि येन विशेषेण निरूपणं तदेव तस्य स्वरूपं स्यात् । अत उच्यते—चैतन्यम् पृथिव्यादीनामन्यतमस्य सर्वेषां विपरिणतानां वा

पूर्व०—क्या ब्रह्मके बड़े और छोटे अनेकों रूप है, जिससे कि गुरु 'तू ब्रह्मके अल्प रूपको ही जानता है' ऐसा कह रहे है ?

सिद्धान्ती—हाँ, नाम-रूपात्मक उपाधिके किये हुए तो ब्रह्मके अनेक रूप है, किन्तु स्वतः नहीं है । स्वतः तो "जो अशब्द, अस्पर्श, रूपरहित, अव्यय, रसहीन, नित्य और गन्धहीन है" इस श्रुतिके अनुसार शब्दादिके सहित उसके सभी रूपोंका प्रतिषेध किया जाता है ।

पूर्व०—जिस धर्मके द्वारा जिसका निरूपण किया जाता है वही उसका रूप हुआ करता है; अतः ब्रह्मका भी जिस विशेषणसे निरूपण होता है वही उसका स्वरूप होना चाहिये । अतः कहते है—चैतन्य पृथिवी आदिका अथवा परिणामको प्राप्त हुए अन्य

वाक्य-भाष्य

अथवाल्पमेवास्याध्यात्मिकं मनुष्येषु देवेषु च आधिदैविकमस्य ब्रह्मणो यद्रूपं तदिति सम्बन्धः । अथ न्विति हेतुमीमांसायाः । यस्माद्दहरमेव सु विदितं ब्रह्मणो रूपमन्यदेव तद्विदि-

अथवा इसका इस प्रकार सम्बन्ध लगाना चाहिये कि इस ब्रह्मका जो मनुष्योंमे आध्यात्मिक और देवताओंमे आधिदैविक रूप है वह बहुत तुच्छ ही है । 'अथ नु' ऐसा कहकर ब्रह्मके विचारमे हेतुप्रदर्शित करते है । क्योंकि 'ब्रह्म विदितसे पृथक् ही है'—ऐसा कहे जानेके कारण ब्रह्मका अच्छी प्रकार जाना हुआ रूप तो अल्प ही है ।

पद-भाष्य

धर्मो न भवति, तथा श्रोत्रादीनामन्तःकरणस्य च धर्मो न भवतीति ब्रह्मणो रूपमिति ब्रह्म रूप्यते चैतन्येन। तथा चोक्तम्। "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ० उ० ३।९।२८) "विज्ञानघन एव" (बृ०उ०२।४।१२) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० उ० २।१।१) "प्रज्ञानं ब्रह्म" (ऐ० उ० ५।३) इति च ब्रह्मणो रूपं निर्दिष्टं श्रुतिषु।

सत्यमेवम्; तथापि तदन्तःकरणदेहेन्द्रियोपाधिद्वारेणैव विज्ञानादिशब्दैर्निर्दिश्यते, तदनुकारित्वाद् देहादिवृद्धिसङ्कोच-

समस्त पदार्थोंमेसे किसीका धर्म नहीं है और न वह श्रोत्रादि इन्द्रिय अथवा अन्तःकरणका ही धर्म है, अतएव वह ब्रह्मका रूप है, इसीलिये ब्रह्मका चैतन्यरूपसे निरूपण किया जाता है। ऐसा ही कहा भी है— "ब्रह्म विज्ञान और आनन्दस्वरूप है" "वह विज्ञानघन ही है" "ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्तस्वरूप है" "प्रज्ञान ब्रह्म है" इस प्रकार श्रुतियोंमे भी ब्रह्मके रूपका निरूपण किया गया है।

सिद्धान्ती—यह ठीक है, तथापि वह अन्तःकरण, शरीर और इन्द्रियरूप उपाधिके द्वारा ही विज्ञानादि शब्दोंसे निरूपण किया जाता है, क्योंकि देहादिके वृद्धि, संकोच,

वाक्य-भाष्य

तादित्युक्तत्वात्। सुवेदेति च मन्यसेऽतोऽल्पमेव वेत्थ त्वं ब्रह्मणो रूपं यस्मादथ नु तस्मान्मीमांस्यम् एवाद्यापि ते तव ब्रह्म विचार्यमेव यावद्विदिताविदितप्रतिषेधागमार्थानुभव इत्यर्थः।

और तू यह मानता ही है कि मैं उसे अच्छी तरह जानता हूँ। इसलिये तू ब्रह्मके अल्प स्वरूपको ही जानता है। क्योंकि ऐसी बात है, इसलिये जबतक तुझे विदित और अविदितका प्रतिषेध करनेवाले शास्त्रवचनका अनुभव न हो तबतक तो अब भी मैं तेरे लिये ब्रह्मको मीमांसा यानी विचारके योग्य ही समझता हूँ; यह इसका तात्पर्य है।

पद-भाष्य

च्छेदादिषु नाशेषु च, न स्वतः। स्वतस्तु "अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्" (के० उ० २ । ३) इति स्थितं भविष्यति।

उच्छेद और नाश आदिमें वह उनका अनुकरण करनेवाला है; परन्तु स्वतः वैसा नहीं है। स्वतः तो वह "जाननेवालोंके लिये अज्ञात है और न जाननेवालोंके लिये ज्ञात है" इस प्रकार निश्चय किया जायगा।

यदस्य ब्रह्मणो रूपमिति पूर्वेण सम्बन्धः। न केवलमध्यात्मोपाधिपरिच्छिन्नस्यास्य ब्रह्मणो रूपं त्वमल्पं वेत्थ; यदप्यधिदैवतोपाधिपरिच्छिन्नस्यास्य ब्रह्मणो रूपं देवेषु वेत्थ त्वम् तदपि नूनं दहरमेव वेत्थ इति मन्येऽहम्। यदध्यात्मं यदपि देवेषु तदपि चोपाधिपरिच्छिन्नत्वाद्दहरत्वान्न निवर्तते। यत्तु

'यदस्य' इस पदसमूहका पूर्ववर्ती 'ब्रह्मणो रूपम्' के साथ सम्बन्ध है। तू केवल आध्यात्मिक उपाधिसे परिच्छिन्न हुए इस ब्रह्मके ही अल्प रूपको नहीं जानता बल्कि अधिदैवत उपाधिसे परिच्छिन्न हुए इस ब्रह्मके भी जिस रूपको तू देवताओंमें जानता है वह भी निश्चय तू इसके अल्प रूपको ही जानता है—ऐसा मैं मानता हूँ। इसका जो अध्यात्मरूप है और जो देवताओंमें है वह भी उपाधि-परिच्छिन्न होनेके कारण दहरत्व (अल्पत्व) से दूर नहीं है। किन्तु

वाक्य-भाष्य

मन्ये विदितमिति शिष्यस्य मीमांसानन्तरोक्तिः प्रत्ययत्रयसङ्गतेः। सम्यग्वस्तुनिश्चयाय विचालितः शिष्य आचार्येण मीमांस्यमेव त इति चोक्त एकान्ते

'मन्ये विदितम्' यह शिष्यकी मीमांसा (विचार) करनेके अनन्तरकी उक्ति है—क्योंकि ऐसा माननेपर ही तीन प्रकारकी प्रतीतियोंकी सङ्गति होती है। सम्यक् वस्तुके निश्चयके लिये विचलित किये हुए शिष्यसे जब आचार्यने कहा कि 'तुम्हारे लिये अभी ब्रह्म विचारणीय ही है' तब शिष्यने

पद-भाष्य

विध्वस्तसर्वोपाधिविशेषं शान्तम् अनन्तमेकमद्वैतं भूमाख्यं नित्यं ब्रह्म, न तत्सुवेद्यमित्यभिप्रायः।

यत एवम् अथ नु तस्मात् मन्ये अद्यापि मीमांस्यं विचार्यमेव ते तव ब्रह्म। एवमाचार्योक्तः शिष्य एकान्ते उपविष्टः समाहितः सन्, यथोक्तमाचार्येण आगममर्थतो विचार्य, तर्कतश्च निर्धार्य, स्वानुभवं कृत्वा, आचार्यसकाशमुपगम्य उवाच— मन्येऽहमथेदानीं विदितं ब्रह्मेति ॥१॥

जो सम्पूर्ण उपाधि और विशेषणोंसे रहित शान्त अनन्त एक अद्वितीय भूमासंज्ञक नित्य ब्रह्म है वह सुगमतासे जाननेयोग्य नहीं है—यह इसका अभिप्राय है।

क्योंकि ऐसी बात है इसलिये अभी तो मैं तेरे लिये ब्रह्मको विचारणीय ही समझता हूँ। आचार्यके ऐसा कहनेपर शिष्यने एकान्तमें बैठकर समाहित हो आचार्यके बतलाये हुए आगमको अर्थसहित विचारकर और तर्कद्वारा निश्चयकर आत्मानुभव करनेके अनन्तर आचार्यके समीप आकर कहा—मैं ऐसा मानता हूँ कि अब मुझे ब्रह्म विदित हो गया है ॥ १ ॥



वाक्य-भाष्य

समाहितो भूत्वा विचार्य यथोक्तं सुपरिनिश्चितः सन्नाहागमाचार्यात्मानुभवप्रत्ययत्रयस्यैकविषयत्वेन सङ्गत्यर्थम्। एवं हि सुपरिनिष्ठिता विद्या सफला स्यान्न अनिश्चितेति न्यायः प्रदर्शितो भवति; मन्ये विदितमिति परिनिष्ठितनिश्चितविज्ञानप्रतिज्ञाहेतूक्तेः॥ १ ॥

एकान्त देशमें समाहित चित्तसे पूर्वोक्त प्रकारसे ब्रह्मको विचारनेके अनन्तर भलीभाँति 'निश्चय' करके शास्त्र, आचार्य और अपना अनुभव—इन तीनों प्रतीतियोंकी एक ही विषयमें संगति करनेके लिये कहा [मैं ब्रह्मको ज्ञात हुआ ही मानता हूँ]। इससे यह न्याय दिखलाया गया है कि इस प्रकार खूब निश्चित किया हुआ ज्ञान ही सफल होता है—अनिश्चित नहीं, क्योंकि 'मन्ये विदितम्' इस उक्तिसे परिनिष्ठित—निश्चित विज्ञानकी प्रतिज्ञाके हेतुका ही प्रतिपादन किया गया है ॥१॥

पद-भाष्य

कथमिति, शृणु— | कैसे विदित हुआ है सो सुनिये—

अनुभूतिका उल्लेख

नाहं* मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥ २ ॥

मै न तो यह मानता हूँ कि ब्रह्मको अच्छी तरह जान गया और न यही समझता हूँ कि उसे नही जानता । इसलिये मै उसे जानता हूँ और नहीं भी जानता । हम शिष्योमेसे जो इस प्रकार [उसे विदिता-विदितसे अन्य] जानता है वही जानता है ॥ २ ॥

पद-भाष्य

न अहं मन्ये सुवेदेति; नैवाहं मन्ये सुवेद ब्रह्मेति । नैव तर्हि विदितं त्वया ब्रह्मेत्युक्ते आह— नो न वेदेति वेद च । वेद चेति चशब्दान्न वेद च ।

मै अच्छी तरह जानता हूँ— ऐसा नही मानता अर्थात् ब्रह्मको अच्छी तरह जानता हूँ—ऐसा भी मै निश्चयपूर्वक नहीं मानता । 'तब तो तुझे ब्रह्म विदित ही नहीं हुआ'—ऐसा कहनेपर शिष्य कहता है—'मै नही जानता, सो भी बात नही है, जानता भी हूँ'। मूलके 'वेद च' इस पदसमूहके 'च' शब्दसे 'नही भी जानता' ऐसा अर्थ लेना चाहिये ।

वाक्य-भाष्य

परिनिष्ठितं सफलं विज्ञानं प्रतिजानीत आचार्यात्मनिश्चययोः तुल्यतायै यस्माद्धेतुमाह नाह मन्ये सुवेद इति ।

आचार्यका और अपना निश्चय समान ही है—यह दिखलानेके लिये शिष्य अपने अच्छी प्रकार निश्चित किये हुए सफल विज्ञानकी प्रतिज्ञा करता है, क्योंकि 'नाह मन्ये सुवेद'—ऐसा कहकर वह उसका हेतु बतलाता है ।

* यहाँ 'नाह' ऐसा भी पाठ है, वाक्य-भाष्य इसी पाठके अनुसार है।

पद-भाष्य

ननु विप्रतिषिद्धं नाहं मन्ये सुवेदेति, नो न वेदेति, वेद च इति। यदि न मन्यसे सुवेदेति, कथं मन्यसे वेद चेति। अथ मन्यसे वेदैवेति, कथं न मन्यसे सुवेदेति। एकं वस्तु येन ज्ञायते, तेनैव तदेव वस्तु न सुविज्ञायत इति विप्रतिषिद्धं, संशयविपर्ययौ वर्जयित्वा। न च ब्रह्म संशयितत्वेन ज्ञेयं विपरीतत्वेन वेति

गुरु—'मैं ब्रह्मको अच्छी तरह जानता हूँ—ऐसा नहीं मानता' तथा 'मैं नहीं जानता—सो भी बात नहीं है बल्कि जानता ही हूँ' ऐसा कहना तो परस्पर विरुद्ध है। यदि तू यह नहीं मानता कि 'उसे अच्छी तरह जानता हूँ' तो ऐसा कैसे समझता है कि 'उसे जानता भी हूँ' और यदि तू मानता है कि 'मैं जानता ही हूँ' तो ऐसा क्यों नहीं मानता कि 'उसे अच्छी तरह जानता हूँ'। संशययुक्त और विपरीत ज्ञानको छोड़कर एक वस्तु जिसके द्वारा जानी जाती है उसीसे वही वस्तु अच्छी तरह नहीं जानी जाती—ऐसा कहना तो ठीक नहीं है। और ऐसा भी कोई नियम नहीं बनाया जा सकता कि ब्रह्म संशययुक्त अथवा विपरीतरूपसे

वाक्य-भाष्य

अहेत्यवधारणार्थो निपातो नैव मन्य इत्येतत्। यावदपरिनिष्ठितं विज्ञानं तावत्सुवेद सुष्ठु वेदाहं ब्रह्मेति विपरीतो मम निश्चय आसीत्। स उपजगाम भवद्भिर्विचालितस्य;

'अह' यह निश्चयार्थक निपात है। इसका यह तात्पर्य है कि मैं [ब्रह्मको अच्छी तरह जानता हूँ] ऐसा मानता ही नहीं। जबतक मुझे ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था तबतक ही मुझे 'मैं ब्रह्मको अच्छी तरह जानता हूँ'—ऐसा विपरीत निश्चय था। आपके द्वारा [उस निश्चयसे] विचलित किये जानेपर अब मेरा वह निश्चय दूर हो गया;

पद-भाष्य

नियन्तुं शक्यम् । संशयविपर्ययौ हि सर्वत्रानर्थकरत्वेनैव प्रसिद्धौ ।

ही जाननेयोग्य है, क्योंकि संशय और विपर्यय तो सर्वत्र अनर्थकारी रूपसे ही प्रसिद्ध है ।

एवमाचार्येण विचाल्यमानोऽपि शिष्यो न विचचाल, 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' इत्याचार्योक्तागमसम्प्रदायबलात् उपपत्त्यनुभवबलाच्च; जगर्ज च ब्रह्मविद्यायां दृढनिश्चयतां दर्शयन्नात्मनः ।

आचार्यद्वारा इस प्रकार विचलित किये जानेपर भी 'वह विदितसे अन्य ही है और अविदितसे भी ऊपर है' इस आचार्यके कहे हुए शास्त्रसम्प्रदायके बलसे तथा उपपत्ति और अपने अनुभवके बलसे शिष्य विचलित न हुआ; बल्कि वह ब्रह्मविद्यामें अपनी दृढनिश्चयता दिखलाते हुए गर्जने लगा । किस प्रकार

वाक्य-भाष्य

यथोक्तार्थमीमांसाफलभूतात् स्वात्मब्रह्मत्वनिश्चयरूपात्सम्यक्प्रत्ययाद्विरुद्धत्वात् । अतो नाहं मन्ये सु वेदेति ।

क्योंकि वह पूर्वोक्त अर्थकी मीमांसा (विचार) के फलस्वरूप अपने आत्माके ब्रह्मत्वनिश्चयरूप सम्यक् प्रत्ययके विरुद्ध है । अतः 'मैं अच्छी तरह जानता हूँ' ऐसा तो मानता ही नहीं ।

यस्माच्चैतन्नैव न वेद नो न वेदेति मन्य इत्यनुवर्तते; अविदितब्रह्मप्रतिषेधात् । कथं तर्हि मन्यसे इत्युक्त आह—वेद च । चशब्दाद्वेद च न वेद चेत्यभिप्रायः

तथा, उस ब्रह्मको मैं नहीं जानता—ऐसा भी नहीं मानता क्योंकि अविदित ब्रह्मका प्रतिषेध किया गया है । यहाँ 'नो न वेदेति' इस वाक्यके आगे 'मन्ये' इस क्रिया-पदकी अनुवृत्ति होती है । फिर यह पूछनेपर कि 'तुम किस प्रकार मानते हो ?' शिष्य बोला—'वेद च' । यहाँ 'च' शब्दसे 'वेद च न वेद च' अर्थात् जानता भी हूँ और नहीं भी जानता—

पद-भाष्य

कथंमित्युच्यते—यो यः कश्चिद् नः अस्माकं सब्रह्मचारिणां मध्ये तन्मदुक्तं वचनं तत्त्वतो वेद, स तद्ब्रह्म वेद ।

गर्जने लगा, सो बतलाते हैं—ब्रह्मचारियोंके सहित 'हम शिष्योंमें जो-जो मेरे कहे हुए उस वचनको तत्त्वतः जानता है—वही उस ब्रह्मको जानता है ।'

किंपुनस्तद्वचनमित्यत आह—

नो न वेदेति वेद च इति ।

यदेव 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' इत्युक्तम्, तदेव वस्तु अनुमानानुभवाभ्यां

अच्छा तो वह वचन है क्या? ऐसा प्रश्न करनेपर [शिष्य] कहता है—'मैं नहीं जानता—ऐसा भी नहीं है, जानता भी हूँ ।' जो बात [आचार्यने] 'वह विदितसे अन्य ही है और अविदितसे भी ऊपर है' इस वाक्यद्वारा कही थी उसी वस्तुको अपने अनुमान और अनुभवसे

वाक्य-भाष्य

विदिताविदिताभ्यामन्यत्वाद्ब्रह्मणः तस्मान्मया विदितं ब्रह्मेति मन्य इति वाक्यार्थः ।

ऐसा अभिप्राय है । क्योंकि ब्रह्म विदित और अविदित—दोनोंसे ही भिन्न है। अतः 'ब्रह्म मुझे विदित है—यह मानता हूँ'—यही इस वाक्यका अर्थ है ।

अथवा वेद चेति नित्यविज्ञानब्रह्मस्वरूपतया नो न वेद वेदैव चाहं स्वरूपविक्रियाभावात् । विशेषविज्ञानं च पराध्यस्तं न स्वत इति परमार्थतो न च वेदेति ।

अथवा 'वेद च' इसका यह अभिप्राय है कि मैं नित्यविज्ञान-ब्रह्मस्वरूप होनेके कारण 'नहीं जानता'—ऐसी बात नहीं है बल्कि जानता ही हूँ, क्योंकि अपने स्वरूपमें कोई विकार नहीं है । तथा विशेष विज्ञान भी दूसरोंका आरोपित किया हुआ ही है स्वरूपसे नहीं है—इसलिये परमार्थतः नहीं भी जानता ।

पद-भाष्य

संयोज्य निश्चितं वाक्यान्तरेण नो न वेदेति वेद च इत्यवोचत् आचार्यबुद्धिसंवादार्थं मन्दबुद्धिग्रहणव्यपोहार्थं च। तथा च गर्जितमुपपन्नं भवति 'यो नस्तद्वेद तद्वेद' इति ॥२॥

मिलाकर निश्चित करके आचार्यकी बुद्धिको सम्यक् प्रकारसे बतलाने और मन्दबुद्धियोंकी बुद्धिकी पहुँचसे बचानेके लिये एक दूसरे वाक्यसे 'मै नहीं जानता—ऐसा भी नहीं है जानता भी हूँ' ऐसा कहा है। ऐसा होनेपर ही 'हममेसे जो इस [वाक्यके मर्म] को जानता है वही जानता है' यह गर्जना उचित हो सकती है ॥ २ ॥



वाक्य-भाष्य

यो नस्तद्वेद तद्वेदेति पक्षान्तरनिरासार्थमाम्नाय उक्तार्थानुवादात्। यो नोऽस्माकं मध्ये स एव तद्ब्रह्म वेद नान्यः। उपास्यब्रह्मवित्त्वादतोऽन्यस्य यथाहं वेदेति। वेद चेति पक्षान्तरे ब्रह्मवित्त्वं निरस्यते। कुतोऽयमर्थोऽवसीयत इत्युच्यते। उक्तानुवादादुक्तं ह्यनुवदति नो न वेदेति वेद चेति ॥ २ ॥

'यो नस्तद्वेद तद्वेद' यह आगम उपर्युक्त अर्थका अनुवाद होनेके कारण इससे अन्य पक्षोंका निषेध करनेके लिये है। हममेसे जो उस ब्रह्मको इस प्रकार विदित-अविदितसे भिन्न जानता है वही जानता है, और कोई नहीं; क्योंकि जैसा मै जानता हूँ उससे अन्य प्रकार जाननेवाला तो उपास्य अर्थात् कार्यब्रह्मको ही जाननेवाला है। 'वेद च' इस पदसे अन्य पक्षवालेमे ब्रह्मवित्त्वका निरास किया जाता है। किस कारण यह निष्कर्ष निकाला जाता है ? सो बतलाते है। ऊपर कहे हुए अर्थका अनुवाद करनेके कारण; क्योंकि यहाँ 'नो न वेदेति वेद च' इस वाक्यसे पूर्वोक्तका ही अनुवाद करते है ॥ २ ॥

पद-भाष्य

शिष्याचार्यसंवादात्प्रतिनिवृत्य स्वेन रूपेण श्रुतिः समस्तसंवाद-निर्वृत्तमर्थमेव बोधयति—यस्या-मतमित्यादिना—

अब शिष्य और आचार्यके संवादसे निवृत्त होकर श्रुति समस्त संवादसे सम्पन्न होनेवाले अर्थको ही 'यस्यामतम्' इत्यादि अपने ही रूपसे बतलाती है—

ज्ञाता अज्ञ है और अज्ञ ज्ञानी है

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥ ३ ॥

ब्रह्म जिसको ज्ञात नहीं है उसीको ज्ञात है और जिसको ज्ञात है वह उसे नहीं जानता; क्योंकि वह जाननेवालोंका बिना जाना हुआ है और न जाननेवालोंका जाना हुआ है [क्योंकि अन्य वस्तुओंके समान दृश्य न होनेसे वह विषयरूपसे नहीं जाना जा सकता] ॥ ३ ॥

पद-भाष्य

यस्य ब्रह्मविदः अमतम् अविज्ञातम् अविदितं ब्रह्मेति मतम् अभिप्रायः निश्चयः, तस्य मतं ज्ञातं सम्यग्ब्रह्मेत्यभिप्रायः। यस्य पुनः मतं ज्ञातं विदितं

जिस ब्रह्मवेत्ताका ऐसा मत—अभिप्राय अर्थात् निश्चय है कि ब्रह्म अमत—अविज्ञात यानी अविदित है उसे ब्रह्म ठीक-ठीक मत अर्थात् ज्ञात हो गया है—ऐसा इसका तात्पर्य है। और जिसे 'मुझे ब्रह्म मत—ज्ञात अर्थात् विदित हो

वाक्य-भाष्य

यस्यामतम् इति श्रौतम् आख्यायिकार्थोपसंहारार्थम् । शिष्याचार्योक्तिप्रत्युक्तिलक्षणया अनुभवयुक्तिप्रधानया आख्यायि-कया योऽर्थः सिद्धः स श्रौतेन

'यस्यामतम्' इत्यादि श्रुति-वचन इस आख्यायिकाका उपसंहार करनेके लिये है। शिष्य और आचार्यकी उक्ति-प्रत्युक्ति ही जिसका लक्षण है ऐसी इस अनुभव और युक्तिप्रधान आख्यायिकासे जो अर्थ सिद्ध हुआ है

पद-भाष्य

मया ब्रह्मेति निश्चयः, न वेदैव सः—न ब्रह्म विजानाति सः।

विद्वदविदुषोर्यथोक्तौ पक्षौ अवधारयति—अविज्ञातं विजानतामिति, अविज्ञातम् अमतम् अविदितमेव ब्रह्म विजानतां सम्यग्विदितवतामित्येतत् ।

गया है'—ऐसा निश्चय है वह जानता ही नहीं—उसे ब्रह्मका ज्ञान नही है ।

अब 'अविज्ञातं विजानताम्' ऐसा कहकर विद्वान् और अविद्वान्के उपर्युक्त पक्षोका अवधारण (निश्चय) करते है—जाननेवालो अर्थात् भली प्रकार समझनेवालोको वह ब्रह्म अविज्ञात—अमत यानी अविदित (अज्ञेय) ही है;

वाक्य-भाष्य

वचनेनागमप्रधानेन निगमनस्थानीयेन संक्षेपत उच्यते। यदुक्तं विदितादन्यद्वागादीनामगोचरत्वात् मीमांसितं चानुभवोपपत्तिभ्यां ब्रह्म तत्तथैव ज्ञातव्यम् ।

कस्मात् ? यस्यामतं यस्य विविदिषाप्रयुक्तप्रवृत्तस्य साधकस्य अमतमविज्ञातमविदितं ब्रह्म इत्यात्मतत्त्वनिश्चयफलावसानावबोधतया विविदिषा निवृत्ता इत्यभिप्रायः; तस्य मतं ज्ञातं तेन विदितं ब्रह्म। येनाविषयत्वेन

वह सबका उपसंहार करनेवाले इस शास्त्रप्रधान श्रौतवचनसे संक्षेपमे कहा जाता है। जिसे वागादि इन्द्रियोका अविषय होनेके कारण जाने हुए पदार्थोंसे भिन्न बतलाया था तथा अनुभव और उपपत्तिसे भी जिसकी मीमांसा की थी उस ब्रह्मको वैसा ही जानना चाहिये ।

किस कारणसे ? [सो बतलाते है—] जिज्ञासासे प्रेरित होकर प्रवृत्त हुए जिस साधकको ब्रह्म अविज्ञात—अविदित है अर्थात् आत्मतत्त्वनिश्चयरूप फलमे पर्यवसित होनेवाले ज्ञानरूपसे जिसकी जिज्ञासा निवृत्त हो गयी है उसीको वह विदित—ज्ञात है । तात्पर्य यह कि जिसने ब्रह्मको

पद-भाष्य

विज्ञातं विदितं ब्रह्म अविजानताम् असम्यग्दर्शिनाम्, इन्द्रियमनोबुद्धिष्वेवात्मदर्शिनामित्यर्थः;

तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदिमे आत्मभाव करनेवाले असम्यग्दर्शी अज्ञानियोंके लिये ब्रह्म विज्ञात यानी विदित (ज्ञेय) ही है।*

वाक्य-भाष्य

आत्मत्वेन प्रतिबुद्धमित्यर्थः। स सम्यग्दर्शी यस्य विज्ञानानन्तरमेव ब्रह्मात्मभावस्यावसितत्वात् सर्वतः कार्याभावो विपर्ययेण मिथ्याज्ञानो भवति। कथम्? मतं विदितं ज्ञातं मया ब्रह्मेति यस्य विज्ञानं स मिथ्यादर्शी विपरीतविज्ञानो विदितादन्यत्वाद्ब्रह्मणो न वेद स न विजानाति।

अविषयरूपसे आत्मभावसे जाना है उसीने उसे जाना है। जिसे विज्ञानकी प्राप्तिके अनन्तर ही सब ओर ब्रह्मात्मभावकी प्राप्ति हो जानेके कारण कर्तव्यका अभाव हो जाता है वही सम्यग्दर्शी है। इससे विपरीत समझनेवाला मिथ्या ज्ञानी होता है। कैसे? [सो कहते हैं—] जिसका ऐसा विज्ञान है कि ब्रह्म मुझे विदित—ज्ञात अर्थात् मालूम है वह विपरीत विज्ञानवान् मिथ्यादर्शी है, क्योंकि ब्रह्म विदितसे भिन्न है; इसलिये वह ब्रह्मको नहीं जानता—नहीं समझता।

ततश्च सिद्धमवैदिकस्य विज्ञानस्य मिथ्यात्वम्, अब्रह्मविषयतया निन्दितत्वात्तथा कपिलकणभुगादिसमयस्यापि विदितब्रह्मविषयत्वादनवस्थिततर्कजन्यत्वाद्विविदिषानिवृत्तेश्च मिथ्यात्वमिति। स्मृतेश्च "या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च

इन कारणोंसे अवैदिक विज्ञानका मिथ्यात्व सिद्ध हुआ, क्योंकि वह ब्रह्मविषयक न होनेसे, निन्दित है। यही नहीं, कपिल और कणाद आदिके सिद्धान्त भी ज्ञातब्रह्मविषयक, अनवस्थिततर्कजनित और जिज्ञासाकी निवृत्ति न करनेवाले होनेसे मिथ्या ही हैं। "जो वेदबाह्य स्मृतियाँ हैं तथा

* इस वाक्यका तात्पर्य यह है कि 'जिन्हें ब्रह्मके स्वरूपका यथार्थ बोध हो गया है वे तो उसे मन-बुद्धि आदिसे अग्राह्य होनेके कारण अज्ञात यानी अज्ञेय ही मानते हैं। और जो अज्ञानी हैं वे मन-बुद्धि आदिको ही आत्मा समझनेके कारण ब्रह्मका उनके साथ अभेद समझकर यह मानने लगते हैं कि हमने उसे जान लिया है'।

पद-भाष्य

न त्वत्यन्तमेवाव्युत्पन्नबुद्धीनाम्। न हि तेषां विज्ञातम् अस्माभिर्ब्रह्मेति मतिर्भवति । इन्द्रियमनोबुद्ध्युपाधिष्वात्मदर्शिनां तु ब्रह्मोपाधिविवेकानुपलम्भात्, बुद्ध्याद्युपाधेश्च

हाँ, जिनकी बुद्धि अत्यन्त अव्युत्पन्न (अकुशल) है उनके लिये ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उन्हें तो 'हमने ब्रह्मको जान लिया है' ऐसी बुद्धि ही नहीं होती । किन्तु जो लोग इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि उपाधियोंमें आत्मभाव करनेवाले हैं उन्हें तो, ब्रह्म और उपाधिके पार्थक्यका ज्ञान न होने तथा बुद्धि

वाक्य-भाष्य

कुदृष्टयः । सर्वास्ता निष्फलाः प्रोक्तास्तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः" (मनु० १२ । ९५) इति विपरीतमिथ्याज्ञानयोर्नष्टत्वादिति ।

और भी जो कोई कुविचार हैं वे सभी निष्फल कहे गये हैं और सब-के-सब अज्ञाननिष्ठ ही माने गये हैं" इस स्मृतिवाक्यसे भी विपरीत ज्ञान और मिथ्याज्ञानको नष्ट बतलाया गया है ।

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानतामिति पूर्वहेतूक्तिरनुवादस्यानर्थक्यात् । अनुवादमात्रेऽनर्थकं वचनमिति पूर्वोक्तयोर्यस्यामतमित्यादिना ज्ञानाज्ञानयोर्हेत्वर्थत्वेनेदमुच्यते ।

'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' यह मन्त्रके पूर्वार्धमें कहे हुए अर्थका हेतु-कथन है, क्योंकि उसीका अनुवाद करना तो व्यर्थ होगा । अनुवादमात्रके लिये कोई बात कहना कुछ अर्थ नहीं रखता, इसलिये 'यस्यामतम्' इत्यादि पूर्व पदसे कहे हुए ज्ञान और अज्ञानके हेतुरूपसे ही यह कहा गया है ।

अविज्ञातमविदितमात्मत्वेन अविषयतया ब्रह्म विजानतां यस्मात् तस्मात्तदेव ज्ञानम्। यत्तेषां विज्ञातं विदितं व्यक्तमेव बुद्ध्यादिविषयं

क्योंकि विज्ञानियोंको ब्रह्म आत्मस्वरूप होनेके कारण इन्द्रियोंका विषय न होनेसे अविज्ञात—अविदित है, इसलिये वही ज्ञान है। और जो अज्ञानी हैं, जो ऐसा नहीं जानते कि

पद-भाष्य

विज्ञातत्वाद् विदितं ब्रह्मेत्युपपद्यते भ्रान्तिरित्यतोऽसम्यग्दर्शनं पूर्वपक्षत्वेनोपन्यस्यते—विज्ञातमविजानतामिति। अथवा हेत्वर्थ उत्तरार्धोऽविज्ञातमित्यादिः ॥३॥

आदि उपाधिके ज्ञातरूप होनेसे 'ब्रह्म विदित है' ऐसी भ्रान्ति होनी उचित ही है। अतः यहाँ 'विज्ञातमविजानताम्' इस वाक्यद्वारा असम्यग्दर्शनका पूर्वपक्षरूपसे उल्लेख किया गया है। अथवा 'अविज्ञातं विजानताम्' इत्यादि जो मन्त्रका उत्तरार्द्ध है वह* हेतु-अर्थमे है ॥३॥



वाक्य-भाष्य

ब्रह्माविजानतां विदिताविदितव्यावृत्तमात्मभूतं नित्यविज्ञानस्वरूपमात्मस्थमविक्रियममृतमजरमभयमनन्यत्वादविषयमित्येवम् अविजानतां बुद्ध्यादिविषयात्मतयैव नित्यं विज्ञातं ब्रह्म। तस्माद्विदिताविदितव्यक्ताव्यक्तधर्माध्यारोपेण कार्यकारणभावेन सविकल्पमयथार्थविषयत्वात्। शुक्तिकादौ रजताद्यध्यारोपणज्ञानवन्मिथ्याज्ञानं तेषाम् ॥ ३ ॥

ज्ञात और अज्ञात पदार्थोंसे रहित, अपना आत्मा, नित्यविज्ञानस्वरूप, आत्मस्थ, अविक्रिय, अमृत, अजर, अभय और अनन्यरूप होनेके कारण ब्रह्म किसी इन्द्रियका विषय नहीं है—उन्हींको ब्रह्म विज्ञात—विदित—व्यक्त अर्थात् बुद्धि आदिके विषयरूपसे ही प्रतीत होता है; उन्हे सर्वदा बुद्धि आदिके विषयरूपसे ही ब्रह्मका ज्ञान है। अतः विदित-अविदित अथवा व्यक्त-अव्यक्त आदि धर्मोंके आरोपसे [उनका जाना हुआ ब्रह्म] कार्य-कारणभाव रहनेसे सविकल्प ही है क्योंकि वह अयथार्थविषयक है। उनका वह ज्ञान शुक्ति आदिमे आरोपित रजत आदि ज्ञानोंके समान मिथ्या ही है ॥ ३ ॥



* हेतु यों समझना चाहिये—ब्रह्म अज्ञानियोंको इसलिये ज्ञात है, क्योंकि विज्ञानियोंको वह अज्ञात है।

पद-भाष्य

'अविज्ञातं विजानताम्' इत्यवधृतम्। यदि ब्रह्मात्यन्तम् एवाविज्ञातम्, लौकिकानां ब्रह्मविदां चाविशेषः प्राप्तः। 'अविज्ञातं विजानताम्' इति च परस्परविरुद्धम्। कथं तु तद्ब्रह्म सम्यग्विदितं भवतीत्येवमर्थमाह—

'ब्रह्म जाननेवालोको अविज्ञात है' ऐसा निश्चय हुआ। इस प्रकार यदि ब्रह्म अत्यन्त अविज्ञात ही है तो लौकिक पुरुष और ब्रह्मवेत्ताओमे कोई भेद नही रह जाता; इसके सिवा 'जाननेवालोको अविज्ञात है' यह कथन परस्पर विरुद्ध भी है। फिर वह ब्रह्म सम्यक् प्रकारसे कैसे जाना जाता है—यही बात बतलानेके लिये कहते है—

विज्ञानावभासोंमें ब्रह्मकी अनुभूति

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्॥ ४॥

जो प्रत्येक बोध (बौद्ध प्रतीति) मे प्रत्यगात्मरूपसे जाना गया है वही ब्रह्म है—यही उसका ज्ञान है, क्योकि उस ब्रह्मज्ञानसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। अमृतत्व अपनेहीसे प्राप्त होता है, विद्यासे तो अज्ञानान्धकारको निवृत्त करनेका सामर्थ्य मिलता है॥ ४॥

पद-भाष्य

प्रतिबोधविदितं बोधं बोधं प्रति विदितम्। बोधशब्देन बौद्धाप्रत्यया उच्यन्ते। सर्वे प्रत्यया

'प्रतिबोधविदितम्' यानी जो बोध-बोधके प्रति विदित होता है। यहाँ 'बोध' शब्दसे बुद्धिसे होनेवाली प्रतीतियो (ज्ञानों) का कथन हुआ है। अतः समस्त

वाक्य-भाष्य

प्रतिबोधविदितं मतम् इति वीप्सा प्रत्ययानामात्मावबोधद्वारत्वात्। बोधं प्रति

'प्रतिबोधविदितम्' यह द्विरुक्ति है, क्योकि प्रतीतियाँ ही आत्मज्ञानकी द्वार है। 'बोध प्रति बोधं प्रति' (बोध-

पद-भाष्य

विषयीभवन्ति यस्य स आत्मा सर्वबोधान्प्रति बुध्यते । सर्वप्रत्ययदर्शी चिच्छक्तिस्वरूपमात्रः प्रत्ययैरेव प्रत्ययेष्वविशिष्टतया लक्ष्यते; नान्यद्द्वारमन्तरात्मनो विज्ञानाय ।

प्रतीतियाँ जिसकी विषय होती हैं वह आत्मा समस्त बोधोंके समय जाना जाता है । सम्पूर्ण प्रतीतियोंका साक्षी और चिच्छक्तिस्वरूपमात्र होनेके कारण वह प्रतीतियोंद्वारा सामान्यरूपसे प्रतीतियोंमे ही लक्षित होता है । उस अन्तरात्माका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये कोई और मार्ग नहीं है ।

प्रत्ययसाक्षितया ब्रह्मणोऽभेदप्रतिपादनम्

अतः प्रत्ययप्रत्यगात्मतया विदितं ब्रह्म यदा, तदा तन्मतं तत्सम्यग्दर्शनमित्यर्थः सर्वप्रत्ययदर्शित्वे चोपजनना-

अतः जिस समय ब्रह्मको प्रतीतियोंके अन्तःसाक्षीस्वरूपसे जाना जाता है उसी समय वह ज्ञात होता है; अर्थात् यही उसका सम्यक् ज्ञान है । सम्पूर्ण प्रतीतियोका साक्षी होनेपर ही

वाक्य-भाष्य

बोधं प्रतीति वीप्सा सर्वप्रत्ययव्याप्त्यर्था । बौद्धा हि सर्वे प्रत्ययाः तप्तलोहवन्नित्यविज्ञानस्वरूपात्मव्याप्तत्वाद् विज्ञानस्वरूपावभासाः, तदन्यावभासश्चात्मा तद्विलक्षणोऽग्निवदुपलभ्यत इति तेन ते द्वारीभवन्त्यात्मोपलब्धौ । तस्मात्प्रतिबोधावभासप्रत्यगात्म-

बोधके प्रति) यह द्विरुक्ति सम्पूर्ण प्रतीतियोंमे [ब्रह्मकी] व्याप्ति सूचित करनेके लिये है । बुद्धिजनित सम्पूर्ण प्रतीतियाँ तपे हुए लोहेके समान नित्य विज्ञानस्वरूप आत्मासे व्याप्त रहनेके कारण उस विज्ञानस्वरूपसे ही अवभासित है तथा उनसे पृथक् उनका अवभासक आत्मा [लोहपिण्डमें व्याप्त हुए] अग्निके समान उनसे सर्वथा विलक्षण उपलब्ध होता है । अतः वे बौद्ध प्रत्यय आत्माकी उपलब्धिमे द्वारस्वरूप है । इसलिये प्रत्येक बौद्ध प्रत्ययके अवभासमे जो प्रत्यगात्म-

पद-भाष्य

पायवर्जितदृक्स्वरूपता नित्यत्वं विशुद्धस्वरूपत्वमात्मत्वं निर्विशेषतैकत्वं च सर्वभूतेषु सिद्धं भवेत्; लक्षणभेदाभावाद्व्योम्न इव घटगिरिगुहादिषु। विदिताविदिताभ्यामन्यद्ब्रह्मेत्यागमवाक्यार्थ एवं परिशुद्ध एवोपसंहृतो भवति। "दृष्टेर्द्रष्टा श्रुतेः श्रोता मतेर्मन्ता विज्ञातेर्विज्ञाता" इति हि श्रुत्यन्तरम्।

उसका वृद्धिक्षयशून्य साक्षित्व, नित्यत्व, विशुद्धस्वरूपत्व, आत्मत्व, निर्विशेषत्व और सम्पूर्ण भूतोमे [अनुस्यूत] एकत्व सिद्ध हो सकता है, जिस प्रकार कि लक्षणोमे भेद न होनेके कारण घट, पर्वत और गुहादिमें आकाशका अभेद है। इस प्रकार 'ब्रह्म विदित और अविदित—दोनोहीसे भिन्न है' इस शास्त्रवचनके अर्थका ही भली प्रकार शोधन करके यहाँ उपसंहार किया गया है। इसके सिवा "वह दृष्टिका द्रष्टा है, श्रवणका श्रोता है, मतिका मनन करनेवाला है और विज्ञातिका विज्ञाता है" ऐसी एक दूसरी श्रुति भी है। [उससे भी यही सिद्ध होता है]।

वाक्य-भाष्य

तया यद्विदितं तद्ब्रह्म तदेव मतं ज्ञातं तदेव सम्यग्ज्ञानवत्प्रत्यगात्मविज्ञानम्, न विषयविज्ञानम्।

आत्मत्वेन प्रत्यगात्मानमैक्षदिति च काठके।

आत्मज्ञानं अमृतत्वनिमित्तम्

'अमृतत्वं हि विन्दते' इति हेतुवचनम्; विपर्यये मृत्युप्राप्तेः। विषयात्मविज्ञाने हि मृत्युः प्रारभत

स्वरूपसे जाना जाता है वही ब्रह्म है, वही माना हुआ अर्थात् ज्ञात है तथा वही सम्यग्ज्ञानके सहित प्रत्यगात्माका ज्ञान है; विषयज्ञान सम्यग्ज्ञान नही है।

'प्रत्यगात्माको आत्मस्वरूपसे देखा' ऐसा कठोपनिषद्में कहा है। 'अमृतत्वं हि विन्दते' (आत्मज्ञानसे अमरत्व ही प्राप्त होता है) यह हेतुसूचक वाक्य है, क्योंकि इससे विपरीत ज्ञानसे मृत्युकी प्राप्ति होती है। बुद्धि आदि विषयोमे आत्मत्व बोध होनेसे ही

पद-भाष्य

यदा पुनर्बोधक्रियाकर्तेति बोधक्रियालक्षणेन तत्कर्तारं विजानातीति बोधलक्षणेन विदितं प्रतिबोधविदितमिति व्याख्यायते, यथा यो वृक्षशाखाश्चालयति स वायुरिति तद्वत्; तदा बोधक्रियाशक्तिमानात्मा द्रव्यम्, न बोधस्वरूप एव। बोधस्तु जायते विनश्यति च। यदा बोधो जायते, तदा बोधक्रियया स-

जिस प्रकार, जो वृक्षकी शाखाओंको चलायमान करता है उसे वायु कहते है उसी प्रकार— जिस समय 'प्रतिबोधविदितम्' इसका ऐसा अर्थ किया जाता है कि आत्मा बोधक्रियाका कर्ता है; अतः बोधक्रियारूप लिङ्गसे उसके कर्ताको जानता है, इसलिये बोधरूपसे विदित होनेके कारण वह 'प्रतिबोधविदितम्' कहलाता है उस समय—आत्मा बोधक्रियारूप शक्तिसे युक्त एक द्रव्य सिद्ध होता है, साक्षात् बोधस्वरूप ही सिद्ध नहीं होता। बोध (बुद्धिगत प्रतीति) तो उत्पन्न होता है और नष्ट भी हो जाता है। अतः जिस समय बोध उत्पन्न होता है उस समय तो

वाक्य-भाष्य

इत्यात्मविज्ञानममृतत्वनिमित्तम् इति युक्तं हेतुवचनममृतत्वं हि विन्दत इति।

आत्मज्ञानेन किममृतत्वमुत्पाद्यते?

न।

कथं तर्हि?

आत्मना विन्दते स्वेनैव नित्यात्मस्वभावेनामृतत्वं विन्दते। नालम्बनपूर्वकम्। विन्दत इति

मृत्युका आरम्भ होता है, अतः आत्मविज्ञान अमरत्वका हेतु है, इसलिये 'अमृतत्वं हि विन्दते' यह हेतुवचन ठीक ही है।

पूर्व०—क्या आत्मज्ञानसे अमरत्व उत्पन्न किया जाता है?

सिद्धान्ती—नहीं।

पूर्व०—तब कैसे?

सिद्धान्ती—अमरत्व तो आत्मासे—अपने नित्यात्मस्वभावसे ही प्राप्त करते है, किसीके आश्रयसे नहीं। 'विन्दते' इससे यह समझना चाहिये कि उसकी

पद-भाष्य

विशेषः । यदा बोधो नश्यति, तदा नष्टबोधो द्रव्यमात्रं निर्विशेषः । तत्रैवं सति विक्रियात्मकः सावयवोऽनित्योऽशुद्ध इत्यादयो दोषा न परिहर्तुं शक्यन्ते ।

वह बोधक्रियारूप विशेषणसे युक्त होता है और जब उसका नाश हो जाता है तो वह निर्विशेष द्रव्यमात्र रह जाता है । ऐसा माननेसे तो वह विकारी, सावयव, अनित्य और अशुद्ध निश्चित होता है, और उसके इन दोषोका किसी प्रकार परिहार नहीं किया जा सकता ।

कणादमत-समीक्षा

यदपि काणादानाम् आत्म-मनः संयोगजो बोध आत्मनि समवैति; अत आत्मनि बोद्धृत्वम्, न तु विक्रियात्मक आत्मा; द्रव्यमात्रस्तु भवति घट इव रागसमवायी; अस्मिन् पक्षेऽप्यचेतनं द्रव्यमात्रं ब्रह्मेति "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ० उ० ३।९।२८)

तथा वैशेषिक मतावलम्बियोका जो मत है कि 'आत्मा और मनके संयोगसे उत्पन्न होनेवाला बोध आत्मामे समवाय-सम्बन्धसे रहता है, इसीसे आत्मामे बोद्धृत्व है, वस्तुतः आत्मा विकारी नहीं है, वह तो नीलपीतादि वर्णोंके समवायी घटके समान केवल द्रव्यमात्र है' —सो इस पक्षमे भी ब्रह्म अचेतन द्रव्यमात्र सिद्ध होता है और "ब्रह्म विज्ञान एवं आनन्दस्वरूप है"

वाक्य-भाष्य

आत्मविज्ञानापेक्षम् । यदि हि विद्योत्पाद्यममृतत्वं स्यादनित्यं भवेत्कर्मकार्यवत् । अतो न विद्योत्पाद्यम् ।

प्राप्ति आत्मविज्ञानकी अपेक्षा रखनेवाली है । यदि अमृतत्व विद्यासे उत्पन्न किया जाने योग्य होता तो कर्मफलके समान अनित्य हो जाता । इसलिये वह विद्यासे उत्पाद्य नहीं है ।

यदि चात्मनैवामृतत्वं विन्दते किं पुनर्विद्यया क्रियत इत्युच्यते ।

यदि कहो कि जब अमृतत्व स्वतः ही मिल जाता है तो विद्या उसमे क्या करती है, तो इसमें हमे यह कहना है

पद-भाष्य

"प्रज्ञानं ब्रह्म" (ऐ० उ० ५ । ३) इत्याद्याः श्रुतयो बाधिताः स्युः । आत्मनो निरवयवत्वेन प्रदेशाभावात् नित्यसंयुक्तत्वाच्च मनसः स्मृत्युत्पत्तिनियमानुपपत्तिरपरिहार्या स्यात् । संसर्गधर्मित्वं चात्मनः श्रुतिस्मृतिन्यायविरुद्धं कल्पितं स्यात् । "असङ्गो न हि सज्जते" (बृ० उ० ३ । ९ । २६) "असक्तं सर्वभृत्" (गीता १३ । १४) इति हि श्रुतिस्मृती । न्यायश्च—गुणवद्गुणवता संसृज्यते, नातुल्यजातीयम् । अतः निर्गुणं निर्विशेषं सर्वविलक्षणं केनचिदप्यतुल्यजातीयेन संसृज्यत इत्येतत् न्यायविरुद्धं भवेत् । तस्मात् नित्यालुप्तज्ञानस्वरूप-

"प्रज्ञान ब्रह्म है" इत्यादि श्रुतियाँ बाधित हो जाती हैं। निरवयव होनेके कारण आत्मामे कोई देशविशेष नहीं है; और उससे मनका नित्यसंयोग है; इस कारण उसमे स्मृतिकी उत्पत्तिके नियमकी अनुपपत्ति अनिवार्य हो जाती है तथा श्रुति, स्मृति और युक्तिसे विरुद्ध आत्माके संसर्गधर्मी होनेकी कल्पना भी होती है। "असङ्ग [आत्मा] का किसीसे संग नहीं होता" "संगरहित और सबका पालन करनेवाला है" ऐसी श्रुति और स्मृति प्रसिद्ध है । युक्तिसे भी जो वस्तु सगुण होती है उसीका गुणवान्से संसर्ग होता है; विजातीय वस्तुओंका संयोग कभी नहीं होता । अतः निर्गुण निर्विशेष और सबसे विलक्षण आत्माका किसी भी विजातीय वस्तुसे संयोग होता है—ऐसा मानना न्यायविरुद्ध होगा । अतः नित्य अविनाशी ज्ञानस्वरूप प्रकाश-

वाक्य-भाष्य

अनात्मविज्ञानं निवर्तयन्ती सा तन्निवृत्त्या स्वाभाविकस्यामृतत्वस्य निमित्तमिति कल्प्यते । यत आह 'वीर्यं विद्यया विन्दते'।

कि वह अनात्मविज्ञानको निवृत्त करती हुई उसकी निवृत्तिके द्वारा स्वाभाविक अमृतत्वकी हेतु बनती है, क्योंकि [अगले वाक्यसे] 'विद्यासे [अज्ञानान्धकारको निवृत्त करनेका] सामर्थ्य प्राप्त होता है' ऐसा कहा भी है।

पद-भाष्य

ज्योतिरात्मा ब्रह्मेत्ययमर्थः सर्वबोधबोद्धृत्वे आत्मनः सिध्यति, नान्यथा। तस्मात् 'प्रतिबोधविदितं मतम्' इति यथाव्याख्यात एवार्थोऽस्माभिः।

मय आत्मा ही ब्रह्म है—यह अर्थ आत्माके सम्पूर्ण बोधोंके बोद्धा होनेपर ही सिद्ध हो सकता है, और किसी प्रकार नहीं। इसलिये 'प्रतिबोधविदितम्' इसका—हमने जैसी व्याख्या की है—वही अर्थ है।

ब्रह्मणः स्वपरसंवेद्यताया औपाधिकत्वम्

यत्पुनः स्वसंवेद्यता प्रतिबोधविदितमित्यस्य वाक्यस्यार्थो वर्ण्यते, तत्र भवति सोपाधिकत्वे आत्मनो बुद्ध्युपाधिस्वरूपत्वेन भेदं परिकल्प्यात्मनात्मानं वेत्तीति संव्यवहारः—"आत्मन्येवात्मानं पश्यति" (बृ० उ० ४।४।२३) "स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम" (गीता १०।१५) इति। न तु निरुपाधिकस्यात्मन एकत्वे स्वसंवेद्यता परसंवेद्यता वा सम्भवति। संवेदनस्वरूप-

इसके सिवा 'प्रतिबोधविदितम्' इस वाक्यका जो स्वप्रकाशता अर्थ बतलाया जाता है वहाँ आत्माको सोपाधिक मानकर उसमें बुद्धि आदि उपाधिके रूपसे भेदकी कल्पना कर 'आत्मासे आत्माको जानता है' ऐसा व्यवहार हुआ करता है, जैसा कि "आत्मामें ही आत्माको देखता है" "हे पुरुषोत्तम! तुम स्वयं अपनेसे ही अपनेको जानते हो" इत्यादि वाक्योंद्वारा कहा गया है। किन्तु निरुपाधिक आत्मा तो एकरूप होनेके कारण उसमें स्वसंवेद्यता अथवा परसंवेद्यता सम्भव ही नहीं है। जिस प्रकार

वाक्य-भाष्य

वीर्यं सामर्थ्यमनात्माध्यारोपमायास्वान्तध्वान्तानभिभाव्यलक्षणं बलं विद्यया विन्दते। तच्च किंविशिष्टम्? अमृतमविनाशि।

विद्यासे वीर्य—सामर्थ्य यानी अनात्माके अध्यारोप तथा माया और अन्तःकरणके कारण प्राप्त हुए अज्ञानसे जिसका पराभव नहीं हो सकता ऐसा बल प्राप्त होता है। वह किस विशेषणसे युक्त है? वह अमृत यानी अविनाशी है।

पद-भाष्य

त्वात्संवेदनान्तरापेक्षा च न सम्भवति, यथा प्रकाशस्य प्रकाशान्तरापेक्षाया न सम्भवः तद्वत्।

बौद्धपक्षे स्वसंवेद्यतायां तु क्षणभङ्गुरत्वं निरात्मकत्वं च विज्ञानस्य स्यात्; "न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्" (बृ० उ० ४।३।३०) "नित्यं विभुं सर्वगतम्" (मु० उ० १।१।६) "स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयः" (बृ० उ० ४।४।२५) इत्याद्याः श्रुतयो बाध्येरन्।

प्रतिबोधार्थ-विचार

यत्पुनः प्रतिबोधशब्देन निर्निमित्तो बोधः प्रतिबोधः यथा सुप्तस्य इत्यर्थं परिकल्पयन्ति, सकृद्वि-

प्रकाशको किसी अन्य प्रकाशकी अपेक्षा होना सम्भव नहीं है उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप होनेके कारण उसे [अपने ज्ञानके लिये] किसी अन्य ज्ञानकी अपेक्षा नहीं है।

तथा बौद्धमतानुसार तो विज्ञानकी स्वसंवेद्यता स्वीकार करनेपर भी उसकी क्षणभङ्गुरता और निरात्मकता सिद्ध होने लगेगी। [ऐसा होनेपर] "अविनाशी होनेके कारण विज्ञाताकी विज्ञातिका लोप नहीं होता" "नित्य विभु और सर्वगत है" "वह यह महान् अज आत्मा अजर अमर अमृत और अभयरूप है" इत्यादि श्रुतियाँ बाधित हो जायँगी।

इसके सिवा जो लोग प्रतिबोधशब्दसे, जैसा कि सुषुप्त पुरुषको होता है वह निर्निमित्त बोध ही प्रतिबोध है—ऐसे अर्थकी कल्पना करते है अथवा जो दूसरे लोग

वाक्य-भाष्य

अविद्याजं हि वीर्यं विनाशि। विद्ययाविद्याया बाध्यत्वात्। न तु विद्याया बाधकोऽस्तीति विद्याजममृतं वीर्यम्। अतो विद्यामृतत्वे निमित्तमात्रं भवति। "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" इति चाथर्वणे (मु० उ० ३।२।४)

अविद्यासे होनेवाला बल नाशवान् होता है, क्योंकि अविद्या विद्यासे बाधित हो जाती है। किन्तु विद्याका बाधक और कोई नहीं है, अतः विद्याजनित वीर्य अमृत होता है। इसलिये विद्या तो अमृतत्वमे केवल निमित्तमात्र होती है। आथर्वण श्रुतिमे भी कहा है—"यह आत्मा बलहीनसे प्राप्त होनेयोग्य नही है"। ~~जो बल अविद्यासे प्राप्त होता है~~

पद-भाष्य

ज्ञानं प्रतिबोध इत्यपरे; निर्निमित्तः सनिमित्तः सकृद्वासकृद्वा प्रतिबोध एव हि सः। अमृतत्वम् अमरणभावं स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षं हि यस्माद् विन्दते लभते यथोक्तात् प्रतिबोधात्प्रतिबोधविदितात्मकात्, तस्मात्प्रतिबोधविदितमेव मतमित्यभिप्रायः। बोधस्य हि प्रत्यगात्मविषयत्वं च मतममृतत्वे हेतुः। न ह्यात्मनोऽनात्मत्वममृतत्वं भवति। आत्मत्वादात्मनोऽमृतत्वं निर्निमित्तमेव,

[मुक्तिके कारणभूत] एक बार होनेवाले विज्ञानको ही प्रतिबोध समझते है—[वे कुछ भी माना करें] बिना निमित्तसे हो अथवा निमित्तसे तथा एक बार हो अथवा अनेक बार वह सबका सब प्रतिबोध ही है [इसका विशेष विवेचन करनेसे हमे कोई प्रयोजन नही है]। क्योंकि मुमुक्षुगण उपर्युक्त प्रतिबोधसे अर्थात् प्रत्येक बौद्ध प्रत्ययमे होनेवाले आत्मज्ञानसे ही अमृतत्व—अमरणभाव अर्थात् अपने आत्मामे स्थित होनारूप मोक्ष प्राप्त करते है। अतः वह (ब्रह्म) प्रत्येक बोधमे अनुभव होनेवाला ही माना गया है—ऐसा इसका अभिप्राय है। क्योंकि बोधका प्रत्यगात्मविषयक होना ही अमरत्वमे कारण माना गया है। आत्माकी अनात्मरूपता उसके अमरत्वका कारण नही हो सकती। आत्माका अमरत्व उसका स्वरूपभूत होनेके कारण अहैतुक ही है।

वाक्य-भाष्य

लोकेऽपि विद्याजमेव बलमभिभवति न शारीरादिसामर्थ्यं यथा हस्त्यादेः।

लोकमे भी विद्याजनित बल ही दूसरे बलोका पराभव करता है, शरीर आदिका बल नही; जैसे हाथी-घोड़े आदिके शारीरिक बल [मनुष्यके] विद्याजनित बलको नही दबा सकते।

पद-भाष्य

एवं मर्त्यत्वमात्मनो यदविद्यया अनात्मत्वप्रतिपत्तिः ।

इसी प्रकार आत्माकी मृत्यु भी अविद्यावश उसमें अनात्मत्वकी उपलब्धि ही है ।

ज्ञानेनामृतत्वप्राप्तिप्रकारः

कथं पुनर्यथोक्तयात्मविद्यामृतत्वं विन्दत इत्यत आह—आत्मना स्वेन रूपेण विन्दते लभते वीर्यं बलं सामर्थ्यम् । धनसहायमन्त्रौषधितपोयोगकृतं वीर्यं मृत्युं न शक्नोत्यभिभवितुम् अनित्यवस्तुकृतत्वात्; आत्मविद्याकृतं तु वीर्यमात्मनैव विन्दते, नान्येन इत्यतोऽनन्यसाधनत्वादात्मविद्यावीर्यस्य तदेव वीर्यं मृत्युं शक्नोत्य-

तो फिर उपर्युक्त आत्मज्ञानसे किस प्रकार अमरत्व लाभ कर लेता है ? इसपर कहते हैं—[मुमुक्षु पुरुष] आत्मा अर्थात् अपने स्वरूपके ज्ञानसे वीर्य—बल यानी [अमरत्व-प्राप्तिका] सामर्थ्य प्राप्त करता है । धन, सहाय, मन्त्र, ओषधि, तप और योगसे प्राप्त होनेवाला वीर्य अनित्य वस्तुका किया हुआ होनेसे मृत्युका पराभव करनेमें समर्थ नहीं है; किन्तु आत्मविद्यासे होनेवाला वीर्य तो आत्माद्वारा ही प्राप्त किया जाता है—अन्य किसीसे नहीं । इसलिये आत्मविद्याजनित वीर्य किसी अन्य साधनसे प्राप्त होनेवाला नहीं है; अतः वही वीर्य

वाक्य-भाष्य

अथवा प्रतिबोधविदितं मतमिति सकृदेवाशेषविपरीतनिरस्तसंस्कारेण स्वप्नप्रतिबोधवद्यद्विदितं तदेव मतं ज्ञातं भवतीति । अथवा गुरूपदेशः प्रतिबोधस्तेन

अथवा 'प्रतिबोधविदितं मतम्' इस वाक्यका ऐसा अर्थ समझना चाहिये कि स्वप्नसे जागे हुएके समान जिसके सम्पूर्ण विपरीत संस्कारोंका एक बार ही बाध हो गया है, उसीसे जो जाना जाता है वही मत अर्थात् ज्ञात होता है । अथवा गुरुका उपदेश ही प्रतिबोध है, उससे जाना

पद-भाष्य

भिभवितुम् । यत एवमात्मविद्याकृतं वीर्यमात्मनैव विन्दते, अतः विद्यया आत्मविषयया विन्दतेऽमृतम् अमृतत्वम् । "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" (मु० उ० ३ । २ । ४) इत्याथर्वणे । अतः समर्थो हेतुः अमृतत्वं हि विन्दत इति ॥४॥

मृत्युका पराभव कर सकता है। क्योंकि [मुमुक्षु पुरुष] इस प्रकार आत्मविद्याजनित वीर्यको आत्माद्वारा ही प्राप्त करता है, इसलिये आत्मसम्बन्धिनी विद्यासे ही अमरत्व प्राप्त करता है । अथर्ववेदीय (मुण्डक) उपनिषद्मे कहा है—"यह आत्मा बलहीन पुरुषको प्राप्त होने योग्य नहीं है" । अतः यह आत्मविद्यारूप हेतु [मृत्युका निवारण करनेमे] समर्थ है क्योंकि इससे अमरत्व प्राप्त करता है ॥ ४ ॥



कष्टा खलु सुरनरतिर्यक्प्रेतादिषु संसारदुःखबहुलेषु प्राणिनिकायेषु जन्मजरामरणरोगादिसंप्राप्तिरज्ञानात् । अतः—

जिनमे सांसारिक दुःखोंकी बहुलता है उन देवता, मनुष्य, तिर्यक् और प्रेतादि प्राणियोमे अज्ञानवश जन्म, जरा, मरण और रोगादिकी प्राप्ति होना निश्चय ही बड़े दुःखकी बात है । अतः—

वाक्य-भाष्य

वा विदितं मतमिति । उभयत्र प्रतिबोधशब्दप्रयोगोऽस्ति सुप्तप्रतिबुद्धो गुरुणा प्रतिबोधित इति । पूर्वं तु यथार्थम् ॥ ४ ॥

हुआ ही मत (जाना हुआ) है। सोनेसे जागा हुआ तथा गुरुद्वारा प्रतिबोधित—दोनो ही जगह 'प्रतिबोध' शब्दका प्रयोग होता है । परन्तु इन तीनोमे सबसे पहला अर्थ ही ठीक है ॥ ४ ॥

आत्मज्ञान ही सार है

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः । भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ ५ ॥

यदि इस जन्ममे ब्रह्मको जान लिया तब तो ठीक है और यदि उसे इस जन्ममे न जाना तब तो बडी भारी हानि है । बुद्धिमान् लोग उसे समस्त प्राणियोमे उपलब्ध करके इस लोकसे जाकर (मरकर) अमर हो जाते है ॥ ५ ॥

पद-भाष्य

इह एव चेत् मनुष्योऽधिकृतः समर्थः सन् यदि अवेदीद् आत्मानं यथोक्तलक्षणं विदितवान् यथोक्तेन प्रकारेण, अथ तदा अस्ति सत्यं मनुष्यजन्मन्यस्मिन्नविनाशोऽर्थवत्ता वा

यदि किसी अधिकारी पुरुषने सामर्थ्य लाभ कर इस लोकमे ही उपर्युक्त लक्षणोसे युक्त आत्माको पूर्वोक्त प्रकारसे जान लिया, तब तो उसके इस मनुष्यजन्ममे सत्य—अविनाशिता—सार्थकता—सद्भाव

वाक्य-भाष्य

इह चेदवेदीत् इत्यवश्यकर्तव्यतोक्तिर्विपर्यये विनाशश्रुतेः । इह मनुष्यजन्मनि सत्यवश्यमात्मा वेदितव्य इत्येतद्विधीयते । कथमिह चेदवेदीद्विदितवान्, अथ सत्यं परमार्थतत्त्वमस्त्यवाप्तं तस्य जन्म सफलमित्यभिप्रायः । न चेदिहावेदीन्न विदितवान्

'इहचेदवेदीदथ सत्यमस्ति' यह श्रुति आत्मसाक्षात्कारकी अवश्यकर्त्तव्यता बतलानेवाली है, क्योंकि इसकी विपरीत अवस्थामे श्रुतिने विनाश बतलाया है । इह अर्थात् इस मनुष्य-जन्मके रहते हुए आत्माको अवश्य जान लेना चाहिये—ऐसा विधान किया जाता है । किस प्रकार कि यदि इस जन्ममे आत्माको जान लिया तो ठीक है, उसे परमार्थतत्त्व प्राप्त हो गया; अभिप्राय यह कि उसका जन्म सफल हो गया । और यदि उसे इस जन्ममे न जाना—न

पद-भाष्य

सद्भावो वा परमार्थता वा सत्यं विद्यते । न चेदिहावेदीदिति, न चेद् इह जीवंश्चेद् अधिकृतः अवेदीत् न विदितवान्, तदा महती दीर्घा अनन्ता विनष्टिः विनाशनं जन्मजरामरणादिप्रबन्धाविच्छेदलक्षणा संसारगतिः ।

अथवा परमार्थता विद्यमान है । और यदि न जाना अर्थात् इस लोकमे जीवित रहते हुए ही उस अधिकारीने आत्मज्ञान प्राप्त न किया तो उसे महान्—दीर्घ यानी अनन्त विनाश अर्थात् जन्म, जरा और मरण आदिकी परम्पराका विच्छेद न होनारूप संसारगतिकी ही प्राप्ति होती है ।

तस्मादेवं गुणदोषौ विजानन्तो ब्राह्मणाः भूतेषु भूतेषु सर्वभूतेषु स्थावरेषु चरेषु च एकमात्मतत्त्वं ब्रह्म विचित्य विज्ञाय

अतः इस प्रकार गुण और दोषको जाननेवाले धीर—बुद्धिमान् ब्राह्मणलोग प्राणी-प्राणीमे अर्थात् सम्पूर्ण चराचर जीवोमे एक ब्रह्मस्वरूप आत्मतत्त्वको 'विचित्य'—जानकर

वाक्य-भाष्य

वृथैव जन्म । अपि च महती विनष्टिर्महान्विनाशो जन्ममरणप्रबन्धाविच्छेदप्राप्तिलक्षणः स्यादतस्तस्मादवश्यं तद्विच्छेदाय ज्ञेय आत्मा ।

समझा तो उसका जन्म वृथा ही गया । यही नही, जन्म-मरणपरम्पराकी अविच्छिन्नतारूप बड़ी भारी हानि भी है । अतः उस परम्पराके विच्छेदके लिये आत्माको अवश्य जान लेना चाहिये ।

ज्ञानेन तु किं स्यादित्युच्यते ।

भूतेषु भूतेषु चराचरेषु सर्वेषु इत्यर्थः । विचित्य पृथङ्निष्कृष्य एकमात्मतत्त्वं संसारधर्मैरस्पृष्-

आत्मज्ञानसे होगा क्या सो [भूतेषु भूतेषु आदि वाक्यसे] बतलाते है । भूत-भूतमे अर्थात् सम्पूर्ण चराचर प्राणियोमे आत्माका शोधनकर—उसे उससे अलग निकालकर यानी ससारधर्मोसे अस्पृष्ट एकमात्र आत्मतत्त्वको

पद-भाष्य

साक्षात्कृत्य धीराः धीमन्तः प्रेत्य व्यावृत्य ममाहंभावलक्षणाद्-'विद्यारूपादस्माल्लोकाद् उपरम्य सर्वात्मैकभावमद्वैतमापन्नाः सन्तः अमृता भवन्ति ब्रह्मैव भवन्तीत्यर्थः। "स यो ह वै तत्परं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मु० उ० ३ । २ । ९) इति श्रुतेः ॥५॥

अर्थात् साक्षात् कर यहाँसे लौटने-पर अर्थात् ममता-अहंतारूप इस अविद्यात्मक लोकसे उपरत होकर सबमे आत्मैकत्वरूप अद्वैतभावको प्राप्त होकर अमर अर्थात् ब्रह्म ही हो जाते है, जैसा कि "जो पुरुप निश्चयपूर्वक उस परब्रह्मको जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है ॥ ५ ॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

वाक्य-भाष्य

मात्मभावेनोपलभ्येत्यर्थः अनेकार्थत्वाद्धातूनां न पुनश्चित्वेति सम्भवति विरोधात्; धीराः धीमन्तो विवेकिनो विनिवृत्तबाह्यविषयाभिलाषाः प्रेत्य मृत्वास्माल्लोकाच्छरीराद्यनात्मलक्षणात् व्यावृत्तममत्वाहंकाराः सन्त इत्यर्थः। अमृता अमरणधर्माणो नित्यविज्ञानामृतत्वस्वभावा एव भवन्ति ॥ ५ ॥

आत्मभावसे उपलब्ध कर धीर—बुद्धिमान् अर्थात् विवेकी पुरुष—जिनकी बाह्य विषयोकी अभिलाषा निवृत्त हो गयी है—मरकर अर्थात् इस शरीरादि अनात्मस्वरूप लोकसे जिनका ममत्व और अहकार निवृत्त हो गया है ऐसे होकर अमृत—अमरण-धर्मा यानी नित्यविज्ञानामृतस्वभाववाले ही हो जाते हैं। धातुओंके अनेक अर्थ होते है [इसीलिये यहाँ 'विचित्य' क्रियाका उपर्युक्त अर्थ ठीक है] यहाँ इसका 'चयन करके' ऐसा अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि आत्माके सम्बन्धमे ऐसा अर्थ करनेसे विरोध आता है ॥ ५ ॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

तृतीय खण्ड

यक्षोपाख्यान

वाक्य-भाष्य

यक्षोपाख्यानस्य प्रयोजने विकल्पा

ब्रह्म ह देवेभ्य इति ब्रह्मणो दुर्विज्ञेयतोक्तिर्यत्नाधिक्यार्था। समाप्ता ब्रह्मविद्या यदधीनः पुरुषार्थः । अत ऊर्ध्वमर्थवादेन ब्रह्मणो दुर्विज्ञेयतोच्यते । तद्विज्ञाने कथं नु नाम यत्नमधिकं कुर्यादिति ।

'ब्रह्म ह देवेभ्यो' इत्यादि वाक्यसे [आरम्भ होनेवाली आख्यायिकाके द्वारा] जो ब्रह्मकी दुर्विज्ञेयता बतलायी गयी है वह, ब्रह्मप्राप्तिके लिये अधिक यत्न करना चाहिये—इस प्रयोजनके लिये है। जिसके अधीन पुरुषार्थ है वह ब्रह्मविद्या तो समाप्त हो गयी। अब आगे अर्थवादद्वारा ब्रह्मकी दुर्विज्ञेयता बतलायी जाती है, जिससे कि उसे प्राप्त करनेके लिये मनुष्य किसी-न-किसी तरह अधिक यत्न करे।

शमाद्यर्थो वाम्नायोऽभिमानशातनात् । शमादि वा ब्रह्मविद्यासाधनं विधित्सितं तदर्थोऽयमर्थवादाम्नायः। न हि शमादिसाधनरहितस्याभिमानरागद्वेषादियुक्तस्य ब्रह्मविज्ञाने सामर्थ्यमस्ति। व्यावृत्तबाह्यमिथ्याप्रत्ययग्राह्यत्वाद्ब्रह्मणः । यस्माच्चाग्न्यादीनां जयाभिमानं शातयति। ततश्च ब्रह्मविज्ञानं दर्शयत्यभिमानोपशमे । तस्माच्छमादिसाधनविधानार्थोऽयमर्थवाद इत्यवसीयते ।

अथवा यह श्रुतिभाग अभिमानका नाश करनेवाला होनेसे शमादिकी प्राप्तिके लिये हो सकता है। या शमादिको ब्रह्मविद्याका साधन बतलाना इष्ट है, अतः उसीके लिये यह अर्थवाद-श्रुति है। जो पुरुष शमादि साधनसे रहित तथा अभिमान और राग-द्वेषादिसे युक्त है उसका ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिमें सामर्थ्य नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म बाह्य मिथ्या प्रतीतियोंके निरसनद्वारा ही ग्रहण किया जाने योग्य है। यह आख्यायिका अग्नि आदिके विजय-सम्बन्धी अभिमानको नष्ट करती है, इसलिये अभिमानके शान्त होनेपर ही ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति दिखलाती है। अतः इसका सारांश यह हुआ कि यह अर्थवाद शमादि साधनोंका विधान करनेके लिये ही है।

वाक्य-भाष्य

सगुणोपासनार्थो वापोदितत्वात् । नेदं यदिदमुपासत इत्युपास्यत्वं ब्रह्मणोऽपोदितमपोदितत्वादनुपास्यत्वे प्राप्ते तस्यैव ब्रह्मणः सगुणत्वेनाधिदैवमध्यात्मं चोपासनं विधातव्यमित्येवमर्थो वा । इत्यधिदैवतं तद्वनमित्युपासितव्यमिति हि वक्ष्यति ।

अथवा यह सगुणोपासनाका विधान करनेके लिये भी हो सकता है, क्योंकि पहले ब्रह्मके उपास्यत्वका निषेध कर चुके हैं। पहले 'नेदं यदिदमुपासते' इस श्रुतिसे ब्रह्मके उपास्यत्वका निषेध हो चुका है; इस प्रकार निषिद्ध हो जानेसे ब्रह्मकी अनुपास्यता प्राप्त होनेपर उसी ब्रह्मकी सगुणभावसे अधिदैव या अध्यात्म उपासना करनी चाहिये इसीको बतलानेके लिये यह अर्थवाद हो सकता है, जैसा कि आगे चलकर 'तद्वनमित्युपासितव्यम्' इस [४ । ६ मन्त्र] से उसके अधिदैवरूपके उपास्यत्वका वर्णन करेंगे ।

ब्रह्मपदाभिप्रायः

ब्रह्मेति परो लिङ्गात् । न ह्यन्यत्र परादीश्वरात् नित्यसर्वज्ञात् परिभूयाग्न्यादींस्तृणं वज्रीकर्तुं सामर्थ्यमस्ति तत्र शशाक दग्धुमित्यादिलिङ्गाद्ब्रह्मशब्दवाच्य ईश्वर इत्यवसीयते । न ह्यन्यथाग्निस्तृणं दग्धुं नोत्सहते वायुर्वादातुम् । ईश्वरेच्छया तृणमपि वज्रीभवतीत्युपपद्यते । तत्सिद्धिर्जगतो नियतप्रवृत्तेः ।

'ब्रह्म' इस शब्दसे यहाँ परमात्मा (ईश्वर) समझना चाहिये, क्योंकि यहाँ उसीकी सूचना देनेवाले लिंग (चिह्न) देखे जाते हैं । नित्यसर्वज्ञ परमेश्वरको छोड़कर और किसीमे अग्नि आदि देवताओंका पराभव करके तृणको वज्र बना देनेकी शक्ति नहीं हो सकती । अतः 'तत्र शशाक दग्धुम्' (उसे अग्नि नहीं जला सका) इत्यादि लिंगसे ब्रह्मशब्दका वाच्य ईश्वर ही है—ऐसा निश्चित होता है । इसके सिवा और किसी कारणसे अग्नि तृणको जलानेमे और वायु उसे उड़ानेमे असमर्थ नहीं हो सकते थे । हाँ, यह ठीक है कि ईश्वरकी इच्छासे तो तृण भी वज्र हो जाता है । उस ईश्वरकी सिद्धि संसारकी नियमित प्रवृत्तिसे होती है ।

वाक्य-भाष्य

श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिभिर्नित्यसर्वविज्ञान ईश्वरे सर्वात्मनि सर्वशक्तौ सिद्धेऽपि शास्त्रार्थनिश्चयार्थमुच्यते। तस्येश्वरस्य सद्भावसिद्धिः कुतो भवतीत्युच्यते।

यद्यपि नित्यसर्वविज्ञानस्वरूप, सर्वात्मा, सर्वशक्तिमान् ईश्वर श्रुति, स्मृति और प्रसिद्धिसे सिद्ध भी है तो भी शास्त्रके अर्थको निश्चय करनेके लिये यहाँ यह [अनुमान] कहा जाता है। उस ईश्वरके सद्भावकी सिद्धि किस प्रकार होती है? इसपर कहते हैं—

ईश्वरस्य जगन्नियन्तृत्वनिरूपणम्

यदिदं जगद्देवगन्धर्वयक्षरक्षःपितृपिशाचादिलक्षणं द्युवियत्पृथिव्यादित्यचन्द्रग्रहनक्षत्रविचित्रं विविधप्राण्युपभोगयोग्यस्थानसाधनसम्बन्धि तदत्यन्तकुशलशिल्पिभिरपि दुर्निर्माणं देशकालनिमित्तानुरूपनियतप्रवृत्तिनिवृत्तिक्रममेतद्भोक्तृकर्मविभागज्ञप्रयत्नपूर्वकं भवितुमर्हति; कार्यत्वे सति यथोक्तलक्षणत्वात्। गृहप्रासादरथशयनासनादिवत्। विपक्ष आत्मादिवत्।

स्वर्ग, आकाश, पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, ग्रह और नक्षत्रोंके कारण विचित्र दीखनेवाला तथा नाना प्रकारके प्राणियोंके उपभोगयोग्य स्थान और साधनोंसे सम्बन्ध रखनेवाला यह जितना देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितृगण और पिशाचादिरूप जगत् है वह अत्यन्त कुशल शिल्पियोंद्वारा भी बनाया जाना कठिन है। अतः यह देश, काल और निमित्तके अनुरूप नियमित प्रवृत्ति-निवृत्तिके क्रमवाला जगत् भोक्ता और कर्मके विभागको जाननेवाले किसी चेतनके प्रयत्नपूर्वक ही हो सकता है, क्योंकि कार्यरूप होनेके कारण यह उपर्युक्त लक्षणोंवाला है। जैसे कि गृह, प्रासाद, रथ, शय्या और आसन आदि [सभी कार्यरूप अनित्य पदार्थ देखे जाते हैं]; तथा इसके विपरीत [व्यतिरेकी दृष्टान्तस्वरूप] आत्मा आकाश आदि [नित्य पदार्थ हैं]।

वाक्य-भाष्य

कर्मणाम-स्वातन्त्र्यम्

कर्मण एवेति चेत् ? न । परतन्त्रस्य निमित्तमात्रत्वात् । यदिदमुपभोगवैचित्र्यं प्राणिनां तत्साधनवैचित्र्यं च देशकालनिमित्तानुरूपनियतप्रवृत्तिनिवृत्तिक्रमं च तन्न नित्यसर्वज्ञकर्तृकम् । किं तर्हि ? कर्मण एव तस्याचिन्त्यप्रभावत्वात् सर्वैश्च फलहेतुत्वाभ्युपगमात् । सति कर्मणः फलहेतुत्वे किमीश्वराधिककल्पनयेति न नित्यस्येश्वरस्य नित्यसर्वज्ञशक्तेः फलहेतुत्वं चेति चेत् ।

न कर्मण एवोपभोगवैचित्र्याद्युपपद्यते । कस्मात् ? कर्तृतन्त्रत्वात्कर्मणः । चितिमत्प्रयत्ननिर्वृत्तं हि कर्म तत्प्रयत्नोपरमात् उपरतं सद्देशान्तरे कालान्तरे वा नियतनिमित्तविशेषापेक्षं कर्तुः फलं जनयिष्यतीति न युक्तमनपेक्ष्यान्यदात्मनः प्रयोक्तृ ।

यदि कहो कि जगत्की उत्पत्ति कर्मसे ही है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि कर्म परतन्त्र होनेके कारण केवल उसका निमित्त हो सकता है । [मीमांसककी युक्तिको स्पष्ट करके दिखलाते हैं] यह जो प्राणियोंके उपभोगकी विचित्रता है तथा उनके साधनोंकी विभिन्नता और देश, काल तथा निमित्तके अनुरूप प्रवृत्ति-निवृत्तिका नियमित क्रम है वह किसी नित्य सर्वज्ञका रचा हुआ नहीं है । तो किसका रचा हुआ है ? [इसपर कहते हैं—] यह केवल कर्मका ही फल है क्योंकि वह अचिन्त्य प्रभाववाला है तथा सभीने उसे फलके हेतुरूपसे स्वीकार किया है । इस प्रकार फलके हेतुरूपसे कर्मके रहते हुए ईश्वरकी अधिक कल्पना करनेसे क्या लाभ है ? अतः नित्य सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वरमें फलका हेतुत्व नहीं है ।

सिद्धान्ती—केवल कर्मसे ही उपभोग आदिकी विचित्रता सम्भव नहीं है । किस कारणसे ? क्योंकि कर्म कर्ताके अधीन है । चेतन पुरुषके यत्नसे निष्पन्न होनेवाला कर्म उसके प्रयत्नके निवृत्त होनेसे निवृत्त होकर देशान्तर या कालान्तरमें किसी नियत निमित्तविशेषकी अपेक्षासे ही कर्ताको फलकी प्राप्ति करावेगा—ऐसी व्यवस्था होनेके कारण यह कहना उचित नहीं कि वह अपने किसी दूसरे प्रवर्तककी अपेक्षा न करके ही फल दे देता है । यदि

वाक्य-भाष्य

कर्तैव फलकाले प्रयोक्तेति चेन्मया निर्वर्तितोऽसि त्वां प्रयोक्ष्ये फलाय यदात्मानुरूपं फलमिति ।

कर्म करनेवाले जीवको ही फलकालमे उसका प्रवर्तक माना जाय तो [उस समय वह कर्मसे कहेगा —] 'अरे कर्म ! मैने तुझे किया था, अब मै ही तुझे फल देनेके लिये प्रवृत्त करता हूँ; अतः मुझे अपने अनुरूप फल दे ।'

न । देशकालनिमित्तविशेषानभिज्ञत्वात् । यदि हि कर्ता देशविशेषाभिज्ञः स्वस्वातन्त्र्येण कर्म नियुञ्ज्यात्ततोऽनिष्टफलस्याप्रयोक्ता स्यात् । न च निर्निमित्तं तदनिच्छयात्मसमवेतं तच्चर्मवद्विकरोति कर्म ।

किन्तु ऐसा होना सम्भव नही है, क्योंकि जीव देश, काल और निमित्तविशेषसे अनभिज्ञ है । यदि कर्ता ही देशादि विशेषका ज्ञाता होकर स्वतन्त्रतापूर्वक कर्मको प्रवृत्त करता तो अनिष्ट फलके लिये तो उसे प्रेरित ही न किया करता । इसके सिवा, किसी अन्य निमित्तकी अपेक्षा न रखकर कर्ताके इच्छाके बिना ही, आत्माके साथ नित्यसम्बद्ध हुआ कर्म अपने-आप ही चमड़ेके समान विकारको प्राप्त नही होता ।

न चात्मकृतमकर्तृसमवेतमयस्कान्तमणिवदाकृष्टृ भवति प्रधानकर्तृसमवेतत्वात्कर्मणः । भूताश्रयमिति चेन्न साधनत्वात् । कर्तृक्रियायाः साधनभूतानि भूतानि क्रियाकालेऽनुभूतव्यापाराणि समाप्तौ च हलादिवत्कर्त्रा

क्षणिक-विज्ञानरूप आत्माका किया हुआ कर्म कर्तासे नित्यसम्बद्ध न होकर चुम्बक-पत्थरके समान अपने-आप ही फलका आकर्षण नही कर सकता, क्योंकि कर्मका प्रधान कर्तासे नित्यसम्बन्ध है। यदि कहो कि कर्म भूतोंके आश्रयसे रहता है तो ऐसा कहना ठीक नही, क्योंकि वे तो केवल उसके साधन हैं । कर्ताकी क्रियाके साधनरूप भूत, जो केवल क्रियाकालमे उसके व्यापारका अनुभव करते है और व्यापारके समाप्त हो जानेपर हल आदिके समान

वाक्य-भाष्य

परित्यक्तानि न फलं कालान्तरे कर्तुमुत्सहन्ते न हि हलं क्षेत्राद् व्रीहीन्गृहं प्रवेशयति। भूतकर्मणोश्चाचेतनत्वात्स्वतः प्रवृत्त्यनुपपत्तिः। वायुवदिति चेन्नासिद्धत्वात्। न हि वायोरचितिमतः स्वतःप्रवृत्तिः सिद्धा रथादिष्वदर्शनात्।

कर्ताद्वारा त्याग दिये जाते हैं, कालान्तरमे उसका फल देनेमे समर्थ नही हो सकते। हल धान्योंको खेतसे ले जाकर घरमे नही पहुँचा सकता। अतः अचेतन होनेके कारण भूत और कर्मोंकी स्वतः प्रवृत्ति असम्भव है। यदि कहो कि [अचेतन होनेपर भी] वायुके समान इनकी स्वतः प्रवृत्ति हो सकती है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वह असिद्ध है। अचेतन वायुकी स्वतः प्रवृत्ति सिद्ध नही हो सकती, क्योंकि रथादि अन्य अचेतन पदार्थोंमे वह देखी नही जाती।

शास्त्रात्कर्मण एवेति चेच्छास्त्रं हि क्रियातः फलसिद्धिमाह नेश्वरादेः स्वर्गकामो यजेतेत्यादि। न च प्रमाणाधिगतत्वादानर्थक्यं युक्तम्। न चेश्वरास्तित्वे प्रमाणान्तरमस्तीति चेत्।

मीमासक—शास्त्रानुसार तो कर्मसे ही फल मिलता है, क्योंकि 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि शास्त्र कर्मसे ही फलकी सिद्धि बतलाता है, ईश्वरादिसे नही। इस प्रकार जो बात प्रमाणसिद्ध है उसको व्यर्थ बतलाना भी ठीक नहीं है, और ईश्वरकी सत्तामे भी [अर्थापत्तिको छोड़कर] और कोई प्रमाण नही है।

न। दृष्टन्यायहानानुपपत्तेः।

क्रियाभेद-निरूपणम्

क्रिया हि द्विविधा दृष्टफलादृष्टफला च, दृष्टफलापि द्विविधानन्तरफलागामिफला च, अनन्तरफला गतिभुजिलक्षणा। कालान्तरफला

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नही, क्योंकि दृष्ट न्यायको त्यागना उचित नही है। क्रिया दो प्रकारकी है—दृष्टफला और अदृष्टफला। दृष्टफलाके भी दो भेद हैं—अनन्तरफला[1] और आगामिफला[2]। गमन और भोजन इत्यादि क्रियाएँ अनन्तरफला हैं तथा कृषि और सेवा आदि

१. तत्काल फल देनेवाली। २. भविष्यमें फल देनेवाली।

वाक्य-भाष्य

च कृषिसेवादिलक्षणा तत्रानन्तरफला फलापवर्गिण्येव कालान्तरफला तूत्पन्नप्रध्वंसिनी ।

कालान्तरफला है । उनमें जो जो अनन्तरफला है वे फलोदयके समय ही नष्ट हो जाती है तथा कालान्तरफला उत्पन्न होकर [फल देनेसे पूर्व ही] नष्ट हो जानेवाली है ।

आत्मसेव्याद्यधीनं हि कृषिसेवादेः फलम् यतः । न चोभयन्यायव्यतिरेकेण स्वतन्त्रं कर्म ततो वा फलं दृष्टम् । तथा च कर्मफलप्राप्तौ न दृष्टन्यायहानमुपपद्यते । तस्माच्छान्ते यागादि कर्मणि नित्यः कर्तृकर्मफलविभागज्ञ ईश्वरः सेव्यादिवद्यागाद्यनुरूपफलदातोपपद्यते । स चात्मभूतः सर्वस्य सर्वक्रियाफलप्रत्ययसाक्षी नित्यविज्ञानस्वभावः संसारधर्मैरसंस्पृष्टः ।

क्योंकि कृषिका फल अपने अधीन है और सेवा आदिका फल अपने सेव्यके अधीन है । इस दो प्रकारके न्यायको छोडकर कर्म या उससे प्राप्त होनेवाला फल स्वतन्त्र देखा भी नहीं जाता; तथा कर्मफलकी प्राप्तिमें इस स्पष्ट दीखनेवाले न्यायको छोड़ना उचित भी नहीं है, इसलिये यागादि कर्मोंके समाप्त हो जानेपर उन यागादिके अनुरूप फल देनेवाला तथा कर्ता, कर्म और फलके विभागको जाननेवाला ईश्वर सेव्य आदिके समान होना ही चाहिये, और वह सबका अन्तरात्मा, सम्पूर्ण कर्मफल और प्रतीतियोंका साक्षी, नित्यविज्ञानस्वरूप तथा सांसारिक धर्मोंसे अछूता होना चाहिये ।

ईश्वरास्तित्वसाधनम्

श्रुतेश्च । "न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" (क० उ० २ । २ । ११) "जरां मृत्युमत्येति" (बृ० उ० ३ । ५ । १) "विजरो विमृत्युः" । (छा० उ० ८ । ७ । १) "सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः" (छा० उ० ८ । ७ । १) "एष सर्वेश्वरः" (मा० उ० ६) "साधु कर्म कारयति" (कौषी० उ० ३ । ९) "अनश्नन्नन्यो अभि-

यही बात श्रुतिसे भी सिद्ध होती है । "सम्पूर्ण लोकोंसे विलक्षण परमात्मा लोकके दुःखसे लिप्त नहीं होता" "वह जरा और मृत्युको पार किये हुए है" "जरा और मृत्युसे रहित है" "वह सत्यकाम सत्यसङ्कल्प है" "यह सर्वेश्वर है" "वह शुभ कर्म कराता है" "दूसरा [पक्षी] कर्मफलको न भोगता हुआ

वाक्य-भाष्य

चाकशीति" (श्वे० उ० ४ । ६) "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने" (बृ० उ० ३ । ८ । ९) इत्याद्या असंसारिण एकस्यात्मनो नित्य-मुक्तस्य सिद्धौ श्रुतयः । स्मृतयश्च सहस्रशो विद्यन्ते । न चार्थवादाः शक्यन्ते कल्पयितुम् । अनन्य-शेषत्वे सति विज्ञानोत्पादकत्वात् । न चोत्पन्नं विज्ञानं बाध्यते ।

केवल उसे देखता है" "इस अक्षर-ब्रह्मकी आज्ञामें [सूर्य और चन्द्रमा स्थित हैं]" इत्यादि श्रुतियाँ संसार-धर्मोंसे रहित एक नित्यमुक्त आत्माकी सिद्धिमें ही प्रमाणभूत हैं । इसी प्रकार सहस्रों स्मृतियाँ भी मौजूद हैं । ये सब अर्थवाद हैं—ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती, क्योंकि वे किसी अन्य विधिके शेषभूत न होनेके कारण स्वतन्त्र ज्ञान उत्पन्न करनेवाले हैं और उनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान [किसी प्रमाणान्तरसे] बाधित भी नहीं होता ।

अप्रतिषेधाच्च । न चेश्वरो नास्तीति निषेधोऽस्ति । प्राप्त्य-भावादिति चेन्नोक्तत्वात् । न हिंस्यादितिवत्प्राप्त्यभावात्प्रति-षेधो नारभ्यत इति चेन्न । ईश्वरसद्भावे न्यायस्योक्तत्वात् । अथवाप्रतिषेधादिति कर्मणः फल-दान ईश्वरकालादीनां न प्रति-षेधोऽस्ति । न च निमित्तान्तर-

[ईश्वरका] निषेध न होनेके कारण भी [पूर्वोक्त श्रुतियाँ अर्थवाद नहीं हैं] । ईश्वर नहीं है—ऐसा निषेध कहीं भी नहीं मिलता । यदि कहो कि ईश्वरकी प्राप्ति (सिद्धि) न होनेके कारण निषेध नहीं है, तो ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि उसके विषयमें कहा जा चुका है । अर्थात् यदि ऐसा कहो कि [शास्त्रमें] ईश्वरका कोई प्रसङ्ग ही नहीं आता, इसीलिये 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इस वाक्यके समान ईश्वरके निषेधका भी आरम्भ नहीं किया गया, तो ऐसी बात भी नहीं है, क्योंकि ईश्वरकी सत्तामें उपर्युक्त न्याय कहा गया है । अथवा 'अप्रतिषेधात्' इस हेतु का यह तात्पर्य समझना चाहिये कि कर्म का फल देनेमें ईश्वर और काल आदिका प्रतिषेध नहीं किया गया है । कर्मको,

वाक्य-भाष्य

निरपेक्षं केवलेन कर्त्रैव प्रत्युक्तं फलदं दृष्टम्। न विनष्टोऽपि यागः कालान्तरे फलदो भवति।

किसी अन्य निमित्तकी अपेक्षा न करके केवल कर्तासे ही प्रेरित होकर फल देते देखा भी नहीं है। सर्वथा नष्ट हुआ याग कालान्तरमें फल देनेवाला कभी नहीं होता।

कर्मफलप्रदाने ईश्वरस्य प्राधान्यम्

सेव्यबुद्धिवत्सेवकेन सर्वज्ञेश्वरबुद्धौ तु संस्कृतायां यागादिकर्मणा विनष्टेऽपि कर्मणि सेव्यादिव ईश्वरात्फलं कर्तुर्भवतीति युक्तम्। न तु पुनः पदार्था वाक्यशतेनापि देशान्तरे कालान्तरे वा स्वं स्वं स्वभावं जहति। न हि देशकालान्तरेषु चाग्निरनुष्णो भवति। एवं कर्मणोऽपि कालान्तरे फलं द्विप्रकारमेवोपलभ्यते।

जिस प्रकार सेवककी सेवासे सेव्य (स्वामी) की बुद्धिपर संस्कार पड जाता है उसी प्रकार यागादि कर्मसे सर्वज्ञ ईश्वरकी बुद्धिके संस्कारयुक्त हो जानेसे, फिर उस कर्मके नष्ट हो जानेपर भी, जैसे सेवकको स्वामीसे वैसे ही कर्ताको ईश्वरसे फल मिल जाता है—ऐसा विचार ही ठीक है। पदार्थ तो, सैकड़ों प्रमाणभूत वाक्य होनेपर भी, देशान्तर या कालान्तरमें अपने स्वभावको नहीं छोड़ते। अग्नि किसी भी देश या कालान्तरमें शीतल नहीं हो सकता। इस प्रकार कर्मोंका भी कालान्तरमें दो ही प्रकार फल मिलता देखा जाता है।

बीजक्षेत्रसंस्कारपरिरक्षाविज्ञानवत्कर्त्रपेक्षफलं कृष्यादि विज्ञानवत्सेव्यबुद्धिसंस्कारापेक्षफलं च सेवादि। यागादेः कर्मणस्तथाविज्ञानवत्कर्त्रपेक्षफलत्वानुपपत्तौ कालान्तरफलत्वात्कर्मदेशकालनिमित्तविपाकविभागज्ञबुद्धिसंस्कारापेक्षं फलं भवितु-

कृषि आदि कर्म ऐसे कर्ताकी अपेक्षासे फल देनेवाले हैं जिसे बीज, क्षेत्रसंस्कार तथा खेतीकी रक्षा आदिका ज्ञान हो, और सेवा आदि कर्म विज्ञानवान् सेव्यकी बुद्धिके संस्कारकी अपेक्षासे फलदायक हैं। यागादि कर्म कालान्तरमें फल देनेवाले हैं इसलिये उनकी फलप्राप्तिको अज्ञानी कर्ताकी अपेक्षासे मानना तो ठीक नहीं है; अतः उनका फल कर्म, देश, काल, निमित्त और कर्मविपाकके विभागको जाननेवाले किसी चेतनकी बुद्धिके संस्कारकी अपेक्षासे ही हो

वाक्य-भाष्य

मर्हति; सेवादिकर्मानुरूपफलज्ञसेव्यबुद्धिसंस्कारापेक्षफलस्येव। तस्मात्सिद्धः सर्वज्ञ ईश्वरः सर्वजन्तुबुद्धिकर्मफलविभागसाक्षी सर्वभूतान्तरात्मा। "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः" (बृ० उ० ३। ४। १) इति श्रुतेः।

सकता है, जैसे कि सेवा आदि कर्मोंका फल उसके अनुरूप फलको जाननेवाले सेव्यकी बुद्धिपर हुए संस्कारकी अपेक्षासे मिलता है। इससे सम्पूर्ण जीवोंकी बुद्धि कर्म और फलके विभागका साक्षी, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ ईश्वर सिद्ध हुआ। "जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है जो सर्वान्तर आत्मा है" इस श्रुतिसे भी यही प्रमाणित होता है।

ईश्वरस्य सार्वात्म्यस्थापनम्

स एव चात्रात्मा जन्तूनां नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता "नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ" (बृ० उ० ३। ८। ११) इत्याद्यात्मान्तरप्रतिषेधश्रुतेः। "तत्त्वमसि" (छा० उ० ६। ८–१६) इति चात्मत्वोपदेशात्। न हि मृत्पिण्डः काञ्चनात्मत्वेनोपदिश्यते।

और वही इस सृष्टिमें जीवोंका आत्मा है। उससे भिन्न और कोई द्रष्टा, श्रोता, मन्ता अथवा विज्ञाता नहीं है, जैसा कि "इससे भिन्न और कोई विज्ञाता नहीं है" इत्यादि भिन्न आत्माका प्रतिषेध करनेवाली श्रुतिसे, तथा "तत्त्वमसि" इस महावाक्यद्वारा ब्रह्मका आत्मत्व उपदेश करनेसे सिद्ध होता है। मिट्टीके ढेलेका सुवर्णरूपसे कभी उपदेश नहीं किया जाता।

ज्ञानशक्तिकर्मोपास्योपासकशुद्धाशुद्धमुक्तामुक्तभेदादात्मभेद एवेति चेन्न। भेददृष्ट्यपवादात्।

यदि कहो कि ज्ञान, शक्ति, कर्म, उपास्य-उपासक, शुद्ध-अशुद्ध तथा मुक्त-अमुक्त इत्यादि भेदोंके कारण आत्माका भेद ही है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि भेददृष्टिकी निन्दा की गयी है।

पद-भाष्य

वक्ष्यमाणा-ख्यायिकाया: प्रयोजनम्

'अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्' इत्यादिश्रवणाद् यदस्ति तद्विज्ञातं प्रमाणैः यन्नास्ति तदविज्ञातं शशविषाणकल्पमत्यन्तमेवासद्दृष्टम् ; तथेदं ब्रह्माविज्ञातत्वादसदेवेति मन्दबुद्धीनां व्यामोहो मा भूदिति तदर्थेयमाख्यायिका आरभ्यते ।

'ब्रह्म जाननेवालोंके लिये अविज्ञात है और न जाननेवालोंके लिये ज्ञात है' इस श्रुतिसे मन्दबुद्धि पुरुषोंको ऐसा भ्रम न हो जाय कि 'जो वस्तु है वह तो प्रमाणोंसे जान ही ली जाती है और जो नहीं है वह अविज्ञात वस्तु तो खरगोशके सींगके समान अत्यन्त अभावरूप ही देखी गयी है, अतः यह ब्रह्म भी अविज्ञात होनेके कारण असत् ही है' इसीलिये यह आख्यायिका आरम्भ की जाती है ।

वाक्य-भाष्य

यदुक्तं संसारिण ईश्वरादनन्या इति; तन्न ।

किं तर्हि ?

भेद एव संसार्यात्मनाम् ।

कस्मात् ?

लक्षणभेदादश्वमहिषवत् । कथं लक्षणभेद इत्युच्यते—ईश्वरस्य तावन्नित्यं सर्वविषयं ज्ञानं सवितृप्रकाशवत् । तद्विपरीतं संसारिणां खद्योतस्येव । तथैव शक्तिभेदोऽपि । नित्या

पूर्व०—तुमने जो कहा कि संसारी जीवोंका ईश्वरसे अभेद है सो ठीक नहीं ।

सिद्धान्ती—तो फिर क्या बात है ?

पूर्व०—संसारी जीव और परमात्माका तो परस्पर भेद ही है ।

सिद्धान्ती—क्यों ?

पूर्व०—घोड़े और भैंसके समान उनके लक्षणोंमें भेद होनेके कारण; और यदि कहो कि 'उनके लक्षणोंमें किस प्रकार भेद है तो बतलाते हैं [सुनो,] सूर्यके प्रकाशके समान ईश्वरको सब विषयोंका सर्वदा ज्ञान रहता है, उसके विपरीत संसारी जीवोंको खद्योत (जुगनू) के समान अल्पज्ञान है। इसी प्रकार दोनोंकी शक्तियोंमें भी भेद है । ईश्वरकी शक्ति नित्य

पद-भाष्य

तदेव हि ब्रह्म सर्वप्रकारेण प्रशास्तृ देवानामपि परोदेवः, ईश्वराणामपि परमेश्वरः, दुर्विज्ञेयः, देवानां जयहेतुः, असुराणां

वह ब्रह्म ही सब प्रकारसे शासन करनेवाला, देवताओंका भी परम देव, ईश्वरोंका भी परम ईश्वर, दुर्विज्ञेय तथा देवताओंकी जयका कारण और असुरोंकी पराजयका हेतु है ।

वाक्य-भाष्य

सर्वविषया चेश्वरशक्तिर्विपरीतेतरस्य । कर्म च चित्स्वरूपात्मसत्तामात्रनिमित्तमीश्वरस्य । औष्ण्यस्वरूपद्रव्यसत्तामात्रनिमित्तदहनकर्मवत् । राजायस्कान्तप्रकाशकर्मवच्च स्वात्माविक्रियारूपम् । विपरीतमितरस्य । उपासीतेतिवचनादुपास्य ईश्वरो गुरुराजवत् । उपासकश्चेतरः शिष्यभृत्यवत् । अपहतपाप्मादिश्रवणान्नित्यशुद्ध ईश्वरः । पुण्यो वै पुण्येनेतिवचनाद्विपरीत इतरः ।

और सर्वतोमुखी है तथा जीवकी इसके विपरीत है । ईश्वरका कर्म भी उसके चित्स्वरूपकी सत्तामात्रसे ही होनेवाला है जैसे कि उष्णतारूप [सूर्यकान्तमणि आदि] द्रव्योंकी सत्तामात्रसे दहनकार्य निष्पन्न हो जाता है, अथवा जैसे राजा, चुम्बक और प्रकाशसे होनेवाले कार्य [उनकी सन्निधिमात्रसे] होते हैं उसी प्रकार ईश्वरके कर्म उसके स्वरूपमें विकार उत्पन्न करनेवाले नहीं हैं, किन्तु जीवके कर्म इससे विपरीत हैं । "उपासीत" इस श्रुतिके अनुसार ईश्वर गुरु एवं राजाके समान उपासनीय है तथा जीव शिष्य और सेवकके समान उपासक है । "अपहतपाप्मा" आदि श्रुतियोंके अनुसार ईश्वर नित्यशुद्ध है तथा "पुण्यो वै पुण्येन" आदि श्रुतिवाक्योंसे जीव इसके विपरीत-स्वभाववाला है ।

अत एव नित्यमुक्त एवेश्वरो नित्याशुद्धियोगात्संसारीतरः । अपि च यत्र ज्ञानादिलक्षणभेदः

अतः ईश्वर तो नित्यमुक्त ही है किन्तु जीव नित्य अशुद्धिके योगके कारण संसारी है । तथा जहाँ ज्ञानादि लक्षणोंमें भेद रहता है वहाँ सर्वदा भेद

पद-भाष्य

पराजयहेतुः; तत्कथं नास्तीत्येतस्यार्थस्यानुकूलानि ह्युत्तराणि वचांसि दृश्यन्ते ।

तब वह है किस प्रकार नहीं? [अर्थात् अवश्य ही है] । इस अर्थके अनुकूल ही इस खण्डके आगेके वाक्य देखे जाते हैं ।

वाक्य-भाष्य

अस्ति तत्र भेदो दृष्टः; यथाश्वमहिषयोः । तथा ज्ञानादिलक्षणभेदादीश्वरादात्मनां भेदोऽस्तीति चेत् ।

न ।

कस्मात्?

"अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद" (बृ० उ० १।४।१०) "ते क्षय्यलोका भवन्ति" (छा० उ० ७।२५।२) "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति" (क० उ० २।१।१०) इति भेददृष्टिर्ह्यपोह्यते । एकत्वप्रतिपादिन्यश्च श्रुतयः सहस्रशो विद्यन्ते ।

यदुक्तं ज्ञानादिलक्षणभेदादित्यत्रोच्यते—न

ज्ञानादिभेदस्य औपाधिकत्वम्

अनभ्युपगमात् । बुद्ध्यादिभ्यो व्यतिरिक्ता विलक्षणाश्चेश्वराद्भिन्नलक्षणा आत्मानो न सन्ति । एक एवेश्वरश्चात्मा सर्वभूतानां

ही देखा गया है; जैसे घोड़े और भैंसमें । अतः इसी प्रकार ज्ञानादि लक्षणोंमें भेद रहनेके कारण ईश्वर और जीवोंमें भेद ही है ।

सिद्धान्ती—यह बात नहीं है ।

पूर्व०—कैसे?

सिद्धान्ती—क्योंकि "यह (ब्रह्म) अन्य है और मैं अन्य हूँ—ऐसा जो जानता है वह [ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपको] नहीं जानता" "वे नाशवान् लोकोंको प्राप्त होते हैं" "वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है" इत्यादि वाक्योंसे भेददृष्टिका निषेध किया जाता है और एकत्वका प्रतिपादन करनेवाली तो सहस्रों श्रुतियाँ विद्यमान हैं ।

तथा तुमने जो कहा कि ज्ञानादि लक्षणोंमें भेद होनेके कारण जीव और ईश्वरका भेद ही है, सो इस विषयमें मेरा यह कथन है कि उनमें कुछ भी भेद नहीं है, क्योंकि हमें उनके ज्ञानादिका भेद मान्य नहीं है । बुद्धि आदि उपाधियोंसे व्यतिरिक्त और विलक्षण ऐसे कोई जीव नहीं हैं जो ईश्वरसे भिन्न लक्षणवाले हों । एक ही नित्यमुक्त ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मा माना

पद-भाष्य

अथवा ब्रह्मविद्यायाः स्तुतये। कथम्? ब्रह्मविज्ञानाद्धि अग्न्यादयो देवा देवानां श्रेष्ठत्वं जग्मुः। ततोऽप्यतितरामिन्द्र इति।

अथवा इस (आख्यायिका) का आरम्भ ब्रह्मविद्याकी स्तुतिके लिये है। किस प्रकार? क्योंकि ब्रह्मज्ञानसे ही अग्नि आदि देवगण देवताओंमें श्रेष्ठत्वको प्राप्त हुए थे और उनमें भी इन्द्र सबसे बढ़कर हुआ।

वाक्य-भाष्य

नित्यमुक्तोऽभ्युपगम्यते। बाह्यश्चक्षुर्बुद्ध्यादिसमाहारसन्तानाहंकारममत्वादिविपरीतप्रत्ययप्रबन्धाविच्छेदलक्षणो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तविज्ञानात्मेश्वरगर्भो नित्यविज्ञानाभासश्चित्तचैत्यबीजबीजिस्वभावः कल्पितोऽनित्यविज्ञान ईश्वरलक्षणविपरीतोऽभ्युपगम्यते, यस्याविच्छेदे संसारव्यवहारः विच्छेदे च मोक्षव्यवहारः।

जाता है; क्योंकि चक्षु और बुद्धि आदि संघातकी परम्परासे प्राप्त हुए अहंकार और ममतारूप विपरीत ज्ञानका विच्छेद न होना ही जिसका लक्षण है, नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त विज्ञानस्वरूप ईश्वर ही जिसका अन्तर्यामी है, जो स्वयं नित्यविज्ञानका अवभास (प्रतिबिम्ब) चित्त, चैत्य (सुखादि विषय), बीज (अविद्यादि) और बीजी (शरीरादि) से तादात्म्यको प्राप्त होकर तद्रूप हो गया है तथा जो कल्पित, अनित्य विज्ञानवान् और ईश्वरके लक्षणसे विपरीत है वही बाह्य जीव माना गया है; जिसके इस औपाधिक स्वरूपका विच्छेद न होनेसे संसारका व्यवहार होता है तथा विच्छेद हो जानेपर मोक्षव्यवहार होता है।

अन्यश्च मृत्प्रलेपवत्प्रत्यक्षप्रध्वंसो देवपितृमनुष्यादिलक्षणो भूतविशेषसमाहारो न पुनश्चतुर्थोऽन्यो भिन्नलक्षण ईश्वरादभ्युपगम्यते।

इसमें जो देव, पितृ और मनुष्यरूप भूतोंका संघातविशेष है वह मृत्तिकाके लेपके समान प्रत्यक्ष नष्ट हो जानेवाला और [चेतन आत्मासे] सर्वथा भिन्न है; किन्तु जो [स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों प्रकारके शरीरोंसे] विलक्षण चौथा आत्मा है वह ईश्वरसे भिन्न लक्षणोंवाला नहीं माना जा सकता।

पद-भाष्य

अथवा दुर्विज्ञेयं ब्रह्मेत्येतत् प्रदर्श्यते—येनाग्न्यादयोऽति-तेजसोऽपि क्लेशेनैव ब्रह्म विदित-वन्तस्तथेन्द्रो देवानामीश्वरोऽपि सन्निति ।

अथवा इससे यह दिखलाया गया है कि ब्रह्म दुर्विज्ञेय है, क्योंकि अग्नि आदि परम तेजस्वी होनेपर भी कठिनतासे ही ब्रह्मको जान सके थे तथा देवताओंका स्वामी होनेपर भी इन्द्रने उसे बड़ी कठिनतासे पहचाना था ।

वाक्य-भाष्य

बुद्ध्यादिकल्पितात्मव्यतिरे-काभिप्रायेण तु लक्षणभेदात् इत्याश्रयासिद्धो हेतुः ईश्वरात् अन्यस्यात्मनोऽसत्त्वात् ।

यदि कहो कि बुद्धि आदि कल्पित आत्मासे [निरुपाधिक चेतनस्वरूप] आत्मा भिन्न है इस अभिप्रायसे हमने 'लक्षणभेद होनेके कारण' ऐसा हेतु दिया है, तो तुम्हारा यह हेतु आश्रयासिद्ध * है, क्योंकि ईश्वरसे भिन्न और किसी आत्माकी सत्ता नहीं है ।

ईश्वरस्यैव विरुद्धलक्षणत्वम-युक्तमिति चेत्सुखदुःखादियोगश्च ।

पूर्व०—[यदि ईश्वरसे भिन्न और कोई आत्मा नहीं है तो] ईश्वरमें ही विरुद्धलक्षणत्व तथा सुख-दुःख आदिका योग होना तो ठीक नहीं है ।

न । निमित्तत्वे सति लोक-विपर्ययाध्यारोपणात्सवितृवत् । यथा हि सविता नित्यप्रकाशरूप-

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है क्योंकि आत्मा सूर्यके समान केवल निमित्तमात्र है; लोकोंकी उसमें जो विपरीत बुद्धि है वह केवल आरोपके कारण है । जिस प्रकार सूर्य नित्यप्रकाशस्वरूप होनेके

* जहाँ पक्षमें पक्षतावच्छेदकालका अभाव होता है वहाँ आश्रयासिद्ध हेत्वाभास माना जाता है, जैसे—'आकाशकुसुम सुगन्धिमान् है, कुसुम होनेके कारण, अन्यकुसुमवत्', इस अनुमानमें 'आकाशकुसुम' जो पक्ष है उसमें पक्षतावच्छेदकाल यानी कुसुमत्वका अभाव है, क्योंकि आकाशकुसुम कभी किसीने नहीं देखा । इसी प्रकार यहाँ समझना चाहिये ।

पद-भाष्य

वक्ष्यमाणोपनिषद्विधिपरं वा सर्वं ब्रह्मविद्याव्यतिरेकेण प्राणिनां कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यभिमानो मिथ्या

अथवा आगे कही जानेवाली समस्त उपनिषद् विधिपरक है। और ब्रह्मविद्यासे अतिरिक्त प्राणियों-का जो कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिका अभि-

वाक्य-भाष्य

त्वाल्लोकाभिव्यक्त्यनभिव्यक्ति-निमित्तत्वे सति लोकदृष्टिविपर्ययेणोदयास्तमयाहोरात्रादिकर्तृत्वाध्यारोपभाग्भवत्येवमीश्वरे नित्यविज्ञानशक्तिरूपे लोकज्ञानापोहसुखदुःखस्मृत्यादिनिमित्तत्वे सति लोकविपरीतबुद्ध्याध्यारोपितं विपरीतलक्षणत्वं सुखदुःखाश्रयश्च न स्वतः।

कारण लौकिक पदार्थोंकी अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्तिका निमित्तमात्र होता है तथापि लोकोंकी दृष्टिमे विपरीत भाव आ जानेके कारण इस अध्यारोप-का पात्र बनता है कि वह उदय-अस्त और दिन-रात्रि आदिका कर्ता है, उसी प्रकार नित्यविज्ञानशक्तिस्वरूप ईश्वरमे भी लोकोंके ज्ञानका विनाश तथा सुख, दुःख और स्मृति आदिकी निमित्तता उपस्थित होनेपर लोकोंकी विपरीत बुद्धिसे विपरीतलक्षणत्व तथा सुख-दुःखाश्रयत्वका आरोप कर लिया जाता है, उसमे स्वतः ऐसा कोई भाव नहीं है।

आत्मदृष्ट्यनुरूपाध्यारोपाच्च। यथा घनादिविप्रकीर्णेऽम्बरे येनैव सवितृप्रकाशो न दृश्यते स आत्मदृष्ट्यनुरूपमेवाध्यस्यति सवितेदानीमिह न प्रकाशयतीति सत्येव प्रकाशेऽन्यत्र भ्रान्त्या।

इसके सिवा सभी जीव अपनी-अपनी दृष्टिके अनुरूप ही उसमे आरोप करते हैं [इसलिये भी वह उन सब आरोपोंसे अछूता है]। जिस प्रकार आकाशके मेघ आदिसे आच्छादित हो जानेपर जिस-जिसको सूर्यका प्रकाश दिखलायी नहीं देता वही-वही अन्यत्र प्रकाश रहनेपर भी भ्रान्तिवश अपनी दृष्टिके अनुसार ऐसा आरोप करता है कि 'इस समय यहाँ सूर्य प्रकाशमान नहीं है।' इसी प्रकार इस आत्मतत्त्वमे

पद-भाष्य

इत्येतद्दर्शनार्थं वा आख्यायिका, यथा देवानां जयाद्यभिमानः तद्वदिति ।

मान है वह देवताओंके जय आदिके अभिमानके समान मिथ्या है—यह बात दिखानेके लिये ही प्रस्तुत आख्यायिका है ।

वाक्य-भाष्य

एवमिह बौद्धादिवृत्त्युद्भवाभिभवाकुलभ्रान्त्याध्यारोपितः सुखदुःखादियोग उपपद्यते ।

तत्स्मरणाच्च । तस्यैवेश्वरस्यैव हि स्मरणम्—"मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च" (गीता १५ । १५) "नादत्ते कस्यचित्पापम्" (गीता ५ । १५) इत्यादि । अतो नित्यमुक्त एकस्मिन्सवितरीव लोकाविद्याध्यारोपितमीश्वरे संसारित्वम् । शास्त्रादिप्रामाण्यादभ्युपगतमसंसारित्वमित्यविरोध इति ।

एतेन प्रत्येकं ज्ञानादिभेदः प्रत्युक्तः सौक्ष्म्यचैतन्यसर्वगतत्वाद्यविशेषे च भेदहेत्वभावात् । विक्रियावत्त्वे चानित्यत्वात् । मोक्षे च विशेषानभ्युपगमादभ्युपगमे चानित्यत्वप्रसङ्गात् । अविद्यावदुपलभ्यत्वाच्च भेदस्य ।

भी बुद्धि आदिकी वृत्तियोंके उदय और अस्तसे वैचित्र्यको प्राप्त हुई भ्रान्तिसे आरोपित सुख-दुःखादिका योग हो सकता है ।

इस विषयमें उसीकी स्मृति भी है अर्थात् उस ईश्वरके ही स्मृतिवाक्य भी हैं; जैसे—"मुझहीसे प्राणियोंको स्मृति, ज्ञान और अज्ञान प्राप्त होते हैं" "ईश्वर किसीके पापको स्वीकार नहीं करता" इत्यादि । अतः सूर्यके समान एक ही नित्यमुक्त ईश्वरमें लोकने अविद्यावश संसारित्वका आरोप कर रखा है, तथा शास्त्रादि प्रमाणोंसे उसका असंसारित्व जाना गया है, इसलिये इसमें कोई विरोध नहीं है ।

इससे प्रत्येक जीवके ज्ञानादि भेदका प्रत्याख्यान हो गया, क्योंकि उन सभीमें सूक्ष्मता, चैतन्य और सर्वगतत्वादि धर्म समानरूपसे रहनेके कारण भेदके हेतुका अभाव है । यदि उन्हें विकारी माना जाय तो वे अनित्य हो जायँगे । इसके सिवा मुक्तावस्थामें किसीने भी आत्माका कोई विशेष भाव नहीं माना, यदि कोई मानेगा तो अनित्यत्वका प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा । तथा भेद तो केवल अविद्यावान्को ही उपलब्ध होता;

देवताओंका गर्व

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त ॥ १ ॥

यह प्रसिद्ध है कि ब्रह्मने देवताओंके लिये विजय प्राप्त की। कहते है, उस ब्रह्मकी विजयमें देवताओंने गौरव प्राप्त किया ॥ १ ॥

पद-भाष्य

ब्रह्म यथोक्तलक्षणं परं हं किल देवेभ्योऽर्थाय विजिग्ये जयं लब्धवत् देवानामसुराणां च

यह प्रसिद्ध है कि उपर्युक्त लक्षणोंवाले परब्रह्मने देवताओंके लिये जय प्राप्त की। अर्थात् देवता और असुरोंके संग्राममे संसारके

वाक्य-भाष्य

तत्क्षयेऽनुपपत्तिरिति सिद्धम् एकत्वम्।

है, अविद्याका क्षय होनेपर उसकी सिद्धि नहीं होती। अतः [जीव और ईश्वरका] एकत्व ही सिद्ध होता है।

बन्धमोक्ष-व्यवस्था

तस्माच्छरीरेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनासन्तानस्य अहङ्कारसम्बन्धादज्ञानबीजस्य नित्यविज्ञानान्यनिमित्तस्यात्मतत्त्वयाथात्म्यविज्ञानाद्विनिवृत्तावज्ञानबीजस्य विच्छेद आत्मनो मोक्षसंज्ञा; विपर्यये च बन्धसंज्ञा, स्वरूपापेक्षत्वादुभयोः।

अतः अहंकारके सम्बन्धसे अज्ञानके बीजभूत शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय और इन्द्रियज्ञानके प्रवाहका, जो नित्यविज्ञानस्वरूप आत्मासे भिन्न किसी अन्य निमित्तसे स्थित है, आत्मतत्त्वके यथार्थ ज्ञानसे उस निमित्तके निवृत्त हो जानेपर जो अज्ञानके बीजका उच्छेद हो जाना है वही आत्माका मोक्ष कहलाता है और उससे विपरीतका नाम बन्ध है, क्योंकि वे [बन्ध और मोक्ष] दोनो ही [बुद्धयादि उपाधिविशिष्ट] स्वरूपकी अपेक्षासे है।

ब्रह्म ह इत्यैतिह्यार्थः। पुरा किल देवासुरसंग्रामे जगत्स्थितिपरिपिपालयिषयात्मानुशासनानुवर्तिभ्यो देवेभ्योऽर्थिभ्योऽर्थाय

'ब्रह्म ह' इसमे 'ह' ऐतिह्य (इतिहास) का द्योतक है। कहते है, पूर्वकालमे देवासुरसग्राममे ब्रह्मने जगत्-स्थिति (लोक-मर्यादा) की रक्षाके लिये अपनी आज्ञामे चलनेवाले विजयार्थी देवताओंके लिये असुरोंको

पद-भाष्य

संग्रामेऽसुराञ्जित्वा जगदरातीनीश्वरसेतुभेत्तॄन् देवेभ्यो जयं तत्फलं च प्रायच्छज्जगतः स्थेम्ने। तस्य ह किल ब्रह्मणो विजये देवाः अग्न्यादयः अमहीयन्त महिमानं प्राप्तवन्तः ॥ १ ॥

शत्रु तथा ईश्वरकी मर्यादा भङ्ग करनेवाले असुरोंको जीतकर जगत्की स्थितिके लिये वह जय और उसका फल देवताओंको दे दिया। कहते हैं, ब्रह्मकी उस विजयमें अग्नि आदि देवगण महिमाको प्राप्त हुए ॥ १ ॥



यक्षका प्रादुर्भाव

त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति । तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति ॥ २ ॥

उन्होंने सोचा हमारी ही यह विजय है, और हमारी ही यह महिमा है। कहते हैं, वह ब्रह्म देवताओंके अभिप्रायको जान गया और उनके सामने प्रादुर्भूत हुआ। तब देवतालोग [यक्षरूपमें प्रकट हुए] उस ब्रह्मको 'यह यक्ष कौन है ?' ऐसा न जान सके ॥ २ ॥

वाक्य-भाष्य

विजिग्येऽजैषीदसुरान् । ब्रह्मण इच्छानिमित्तो विजयो देवानां बभूवेत्यर्थः । तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त। यज्ञादिलोकस्थित्यपहारिष्वसुरेषु पराजितेषु देवा वृद्धिं पूजां वा प्राप्तवन्तः ॥ १ ॥

जीत लिया। अर्थात् ब्रह्मकी इच्छारूप निमित्तसे देवताओंकी विजय हो गयी। ब्रह्मकी उस विजयमें देवताओंको महत्ता प्राप्त हुई। लोककी स्थितिके हेतुभूत यज्ञादिको नष्ट करनेवाले असुरोंके पराजित हो जानेपर देवताओंने वृद्धि अथवा खूब सत्कार प्राप्त किया ॥ १ ॥



त ऐक्षन्त इति मिथ्याप्रत्ययत्वाद्धेयत्वख्यापनार्थमाम्नायः।

'त ऐक्षन्त' इत्यादि शास्त्रवाक्य, मिथ्याप्रत्ययरूप होनेके कारण [अभिमानका] हेयत्व प्रतिपादन करनेके लिये है ।

पद-भाष्य

तदा आत्मसंस्थस्य प्रत्यगात्मन ईश्वरस्य सर्वज्ञस्य सर्वक्रियाफलसंयोजयितुः प्राणिनां सर्वशक्तेः जगतः स्थितिं चिकीर्षोः अयं जयो महिमा चेत्यजानन्तः ते देवाः ऐक्षन्त ईक्षितवन्तः अग्न्यादिस्वरूपपरिच्छिन्नात्मकृतोऽस्माकमेवायं विजयः अस्माकमेवायं महिमा अग्निवाय्विन्द्रत्वादिलक्षणो जयफलभूतोऽस्माभिरनुभूयते; नास्मत्प्रत्यगात्मभूतेश्वरकृत इति ।

तत्र, अन्तःकरणमे स्थित, प्रत्यगात्मा, सर्वज्ञ, प्राणियोंके सम्पूर्ण कर्मफलोंका संयोग करानेवाले, सर्वशक्तिमान् एवं जगत्की रक्षा करनेके इच्छुक ईश्वरकी ही यह सम्पूर्ण जय और महिमा है यह न जानते हुए आत्माको अग्नि आदि रूपोंसे परिच्छिन्न माननेवाले देवता सोचने लगे कि—हमलोगोंकी ही यह विजय हुई है, और इस विजयकी फलभूत अग्नित्व, वायुत्व एवं इन्द्रत्वरूप यह महिमा भी हमारी ही है; अतः हमारे द्वारा ही इसका अनुभव किया जाता है; यह विजय अथवा महिमा हमारे अन्तरात्मभूत ईश्वरकी की हुई नहीं है ।

एवं मिथ्याभिमानेक्षणवतां तत् ह किल एषां मिथ्येक्षणं विजज्ञौ विज्ञातवद्ब्रह्म । सर्वेक्षितृ

इस प्रकार मिथ्या अभिमानसे विचार करनेवाले उन देवताओंके इस मिथ्या विचारको ब्रह्मने जान लिया, क्योंकि समस्त जीवोंके

वाक्य-भाष्य

ईश्वरनिमित्ते विजये स्वसाम-र्थ्यनिमित्तोऽस्माकमेवायं विजयोऽ-

जो विजय ईश्वरके निमित्तसे प्राप्त हुई थी उसमें 'यह हमारी सामर्थ्यसे प्राप्त हुई हमारी ही विजय है, हमारी

पद-भाष्य

हि तत् सर्वभूतकरणप्रयोक्तृ-त्वात् देवानां च मिथ्याज्ञान-मुपलभ्य मैवासुरवद्देवा मिथ्या-भिमानात्पराभवेयुरिति तदनु-कम्पया देवान्मिथ्याभिमाना-पनोदनेनानुगृह्णीयामिति तेभ्यः देवेभ्यः ह किलार्थाय प्रादुर्बभूव	अन्तःकरणोंका प्रेरक होनेके कारण वह सबका साक्षी है। देवताओंके इस मिथ्या ज्ञानको जानकर 'इस मिथ्या ज्ञानसे असुरोंकी ही भाँति देवताओंका भी पराभव न हो जाय' इस प्रकार उनपर अनुकम्पा करते हुए यह सोचकर कि 'देवताओंके मिथ्याज्ञानको निवृत्त करके मैं उन्हें अनुगृहीत करूँ' वह उन देवताओं-के लिये प्रादुर्भूत हुआ अर्थात्

वाक्य-भाष्य

स्माकमेवायं महिमेत्यात्मनो जयादि श्रेयोनिमित्तं सर्वात्मा-नमात्मस्थं सर्वकल्याणास्पदमी-श्वरमेवात्मत्वेनाबुद्ध्वा पिण्ड-मात्राभिमानाः सन्तो यं मिथ्या-प्रत्ययं चक्रुस्तस्य पिण्डमात्रविषय-त्वेन मिथ्याप्रत्ययत्वात्सर्वात्मे-श्वरयाथात्म्यावबोधेन हातव्यता-	ही महिमा है' इस प्रकार [अभिमान करके] अपनी विजय आदि कल्याणके हेतुभूत सर्वात्मा सर्वकल्याणास्पद आत्मस्थ ईश्वरको ही आत्मभावसे न जानकर पिण्डमात्रके अभिमानी होकर उन्होंने जो मिथ्या प्रत्यय कर लिया था वह केवल पिण्डमात्रसे सम्बन्ध रखने-वाला होनेसे मिथ्या ज्ञानस्वरूप था। अतः सर्वात्मा ईश्वरके यथार्थ स्वरूपके बोधसे उसका हेयत्व प्रकट करनेके लिये ही यह 'तद्धैषाम्' (वह ब्रह्म उन

पद-भाष्य

स्वयोगमाहात्म्यनिर्मितेनात्यद्भुतेन विस्मापनीयेन रूपेण देवानामिन्द्रियगोचरे प्रादुर्बभूव प्रादुर्भूतवत् । तत् प्रादुर्भूतं ब्रह्म न व्यजानत नैव विज्ञातवन्तः देवाः किमिदं यक्षं पूज्यं महद्भूतमिति ॥२॥

अपनी योगमायाके प्रभावसे सबको विस्मित करनेवाले अति अद्भुतरूपसे देवताओंकी इन्द्रियोंका विषय होकर प्रादुर्भूत अर्थात् प्रकट हुआ । उस प्रकट हुए ब्रह्मको देवतालोग यह न जान सके कि यह यक्ष अर्थात् पूजनीय महान् प्राणी कौन है ?॥२॥



वाक्य-भाष्य

ख्यापनार्थस्तद्धैषामित्याद्याख्यायिकाम्नायः ।

तद्ब्रह्म ह किलैषां देवानामभिप्रायं मिथ्याहङ्काररूपं विजज्ञौ विज्ञातवत् । ज्ञात्वा च मिथ्याभिमानशातनेन तदनुजिघृक्षया देवेभ्योऽर्थाय तेषामेवेन्द्रियगोचरे नातिदूरे प्रादुर्बभूव । महेश्वरशक्तिमायोपात्तेनात्यन्ताद्भुतेन प्रादुर्भूतं किल केनचिद्रूपविशेषेण । तत्किलोपलभमाना अपि देवा न व्यजानत न विज्ञातवन्तः किमिदं यदेतद्यक्षं पूज्यमिति ॥ २ ॥

देवताओंके अभिप्रायको जान गया) आदि आख्यायिकारूप आम्नाय (शास्त्र) है ।

कहते हैं, वह ब्रह्म इन देवताओंके मिथ्या अहंकाररूप अभिप्रायको समझ गया—उसे इसका ज्ञान हो गया । उसे जानकर उस मिथ्याभिमानके छेदनद्वारा देवताओंपर अनुग्रह करनेकी इच्छासे वह देवताओंके ही लिये उनकी इन्द्रियोंका विषय होकर उनसे थोड़ी ही दूरपर प्रकट हुआ । वह महेश्वरकी मायाशक्तिसे ग्रहण किये हुए किसी बड़े ही विचित्र रूपविशेषसे प्रकट हुआ, जिसे देखकर भी देवता लोग यह न जान सके—न पहचान सके कि यह यक्ष अर्थात् पूज्य कौन है ? ॥ २ ॥

अग्निकी परीक्षा

तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि किमिदं यक्षमिति तथेति ॥ ३ ॥

उन्होंने अग्निसे कहा—'हे अग्ने! इस बातको मालूम करो कि यह यक्ष कौन है?' उसने कहा—'बहुत अच्छा' ॥ ३ ॥

पद-भाष्य

ते तदजानन्तो देवाः सान्तर्भयास्तद्विजिज्ञासवः अग्निम् अग्रगामिनं जातवेदसं सर्वज्ञकल्पम् अब्रुवन् उक्तवन्तः। हे जातवेदः एतद् अस्मद्गोचरस्थं यक्षं विजानीहि विशेषतो बुध्यस्व त्वं नस्तेजस्वी किमेतद्यक्षमिति ॥ ३ ॥

उसे न जाननेवाले देवताओंने भीतरसे डरते-डरते उसे जाननेकी इच्छासे सबसे आगे चलनेवाले सर्वज्ञकल्प जातवेदा अग्निसे कहा—'हे जातवेदः! हमारे नेत्रोंके सम्मुख स्थित इस यक्षको जानो—विशेषरूपसे मालूम करो कि यह यक्ष कौन है; क्योंकि तुम हम सबमें तेजस्वी हो' ॥३॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥ ४ ॥

अग्नि उस यक्षके पास गया। उसने अग्निसे पूछा, 'तू कौन है?' उसने कहा, 'मैं अग्नि हूँ, मैं निश्चय जातवेदा ही हूँ' ॥ ४ ॥

पद-भाष्य

तथा अस्तु इति तद् यक्षम् अभि अद्रवत् तत्प्रति गतवानग्निः। तं च गतवन्तं पिपृच्छिषुं तत्समीपेऽप्रगल्भत्वात्तूष्णींभूतं तद्यक्षम् अभ्यवदद्

तब 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर अग्नि उस यक्षकी ओर अभिद्रुत हुआ अर्थात् उसके पास गया। इस प्रकार गये हुए और धृष्ट न होनेके कारण अपने समीप चुपचाप खड़े हुए प्रश्न करनेकी इच्छावाले उस अग्निसे यक्षने कहा—'तू

पद-भाष्य

अग्निं प्रति अभाषत कोऽसीति । एवं ब्रह्मणा पृष्टोऽग्निः अब्रवीत्— अग्निर्वै अग्निर्नामाहं प्रसिद्धो जातवेदा इति च नामद्वयेन प्रसिद्धतयात्मानं श्लाघयन्निति ॥ ४ ॥

कौन है ?' ब्रह्मके इस प्रकार पूछनेपर—'मै अग्नि हूँ—मै अग्नि नामसे प्रसिद्ध जातवेदा हूँ'— इस प्रकार अग्निने दो नामसे प्रसिद्ध होनेके कारण अपनी प्रशंसा करते हुए कहा ॥ ४ ॥

तस्मिꣳस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳ सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ५ ॥

[फिर यक्षने पूछा—] 'उस [जातवेदारूप] तुझमे सामर्थ्य क्या है ?' [अग्निने कहा—] 'पृथिवीमे यह जो कुछ है उस सभीको जला सकता हूँ' ॥ ५ ॥

पद-भाष्य

एवमुक्तवन्तं ब्रह्मावोचत् तस्मिन् एवं प्रसिद्धगुणनामवति त्वयि किं वीर्यं सामर्थ्यम् इति । सोऽब्रवीद् इदं जगत् सर्वं दहेयं भस्मीकुर्यां यद् इदं स्थावरादि पृथिव्याम् इति । पृथिव्यामित्युपलक्षणार्थम्, यतोऽन्तरिक्षस्थमपि दह्यत एवाग्निना ॥ ५ ॥

इस प्रकार बोलते हुए उस अग्निसे ब्रह्मने कहा—'ऐसे प्रसिद्ध गुण और नामवाले तुझमे क्या वीर्य—सामर्थ्य है ?' वह बोला—'पृथिवीपर जो यह चराचररूप जगत् है इस सबको जला सकता हूँ—भस्म कर सकता हूँ।' 'पृथिवीमे' यह केवल उपलक्षणके लिये है, क्योकि जो वस्तु आकाशमे रहती है वह भी अग्निसे जल ही जाती है ॥ ५ ॥

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति । तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥ ६ ॥

तब यक्षने उस अग्निके लिये एक तिनका रख दिया और कहा—'इसे जला' । अग्नि उस तृणके समीप गया, परन्तु अपने सारे वेगसे भी उसे जलानेमे समर्थ नही हुआ । वह उसके पाससे ही लौट आया और बोला, 'यह यक्ष कौन है—इस बातको मै नहीं जान सका' ॥ ६ ॥

पद-भाष्य

तस्मै एवमभिमानवते ब्रह्म तृणं निदधौ पुरोऽग्नेः स्थापितवत् । ब्रह्मणा 'एतत् तृणमात्रं ममाग्रतः दह; न चेदसि दग्धुं समर्थः, मुञ्च दग्धृत्वाभिमानं सर्वत्र' इत्युक्तः तत् तृणम् उपप्रेयाय तृणसमीपं गतवान् सर्वजवेन सर्वोत्साहकृतेन वेगेन । गत्वा तत् न शशाक नाशकद्दग्धुम् ।

इस प्रकार अभिमान करनेवाले उस अग्निके लिये ब्रह्मने एक तृण रखा अर्थात् उसके आगे तृण डाल दिया । ब्रह्मके ऐसा कहनेपर कि 'तू मेरे सामने इस तिनकेको जला; यदि तू इसे जलानेमे समर्थ नहीं है तो सर्वत्र जलानेवाला होनेका अभिमान छोड़ दे' वह अपने सारे बल अर्थात् उत्साहकृत सम्पूर्ण वेगसे उस तृणके पास गया । किन्तु वहाँ जाकर भी वह उसे जलानेमे समर्थ न हुआ ।

सः जातवेदाः तृणं दग्धुमशक्तो व्रीडितो हतप्रतिज्ञः तत एव यक्षादेव तूष्णीं देवान्प्रति निववृते निवृत्तः प्रतिगतवान् न एतत् यक्षम् अशकं शक्तवानहं विज्ञातुं विशेषतः यदेतद्यक्षमिति ॥ ६ ॥

इस प्रकार उस तिनकेको जलानेमे असमर्थ वह अग्नि हतप्रतिज्ञ होनेके कारण लज्जित होकर उस यक्षके पाससे चुपचाप देवताओंके प्रति निवृत्त हुआ—अर्थात् उनके पास लौट आया [और बोला—] 'इस यक्षको मै विशेषरूपसे ऐसा नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है ?' ॥ ६ ॥

वायुकी परीक्षा

अथ वायुमब्रुवन्वायवेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति ॥ ७ ॥

तदनन्तर, उन देवताओंने वायुसे कहा—'हे वायो ! इस बातको मालूम करो कि यह यक्ष कौन है ?' उसने कहा—'बहुत अच्छा' ॥ ७ ॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीति वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥ ८ ॥

वायु उस यक्षके पास गया, उसने वायुसे पूछा—'तू कौन है ?' उसने कहा—'मैं वायु हूँ—मैं निश्चय मातरिश्वा ही हूँ' ॥ ८ ॥

तस्मिꣳस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳ सर्वमाददीय यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ९ ॥

[तब यक्षने पूछा—] 'उस [मातरिश्वारूप] तुझमें क्या सामर्थ्य है ?' [वायुने कहा—] 'पृथिवीमें यह जो कुछ है उस सभीको ग्रहण कर सकता हूँ ॥ ९ ॥

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥ १० ॥

तब यक्षने उस वायुके लिये एक तिनका रखा और कहा—'इसे ग्रहण कर' । वायु उस तृणके समीप गया । परन्तु अपने सारे वेगसे भी